प्रकाशकः—
आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड,
अजमेर.



मुद्रकः—
...। प्रसाद शिवहरे
दि फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर

प्रकाशकीय वक्तव्य

हमने वेदाङ्गप्रकाश के शुद्ध संस्करण प्रकाशित करने का जो उपक्रम प्रारम्भ किया है, उसके अनुसार हम सन्धिविषय आख्यातिक वर्णोच्चारण शिक्षा और धातुपाठ ये चार भाग प्रकाशित कर चुके हैं। यह नामिक* नामक पांचवां भाग भी आज पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं।

हमारे इस संशोधित संस्करण में क्या विशेषताएँ हैं, यह हम सन्धि-विषय के वक्तव्य में दर्शा चुके हैं।

नामिक में नीचे दो प्रकार की टिप्पणियाँ छपी हैं, उन में कुछ ग्रन्थ-कार की हैं और कुछ श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक (जिन्होंने इस का संशोधन किया है) की। दोनों में स्पष्टतया भेद बतलाने के लिये दोनों टिप्पणियों में निम्न विशेषता बरती गई है।

इस संस्कार में ग्रन्थकार की सब टिप्पणियों पर एक, दो आदि संख्या का निर्देश किया है और संशोधक की टिप्पणियों पर * † आदि चिन्ह दिया गया है। जिस पृष्ठ में दोनों प्रकार की टिप्पणियां हैं उन में पहले ग्रन्थकार की दी हैं और उसके नीचे संशोधक की। इस प्रकार दोनों की टिप्पणियों का भेद कर देने से पाठकों को किसी प्रकार का भ्रम न होगा।

इस ग्रन्थ में जितने शब्दों के रूप दिखलाये गये हैं, उन शब्दों की सूची भी इस संस्करण में दे दी है। इससे प्रत्येक शब्द की रूपसिद्धि देखने में अत्यन्त सरलता हो गई है।

आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि इस संस्करण से पढ़ने वाले विद्यार्थियों को अत्यन्त लाभ होगा।

प्रकाशक—

---

* नामिक ग्रन्थ के इतिहास के लिये देखो पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक कृत 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' पृष्ठ १६०।

नामिक

विषय—सूची



नामिकान्तर्गतप्रदर्शितरूपनाम्नाम्

अकारादिक्रमेण सूचीपत्रम्





ओ३म्

अथ नामिकः



यह पढ़ने पढ़ाने की व्यवस्था में पांचवां † पुस्तक है। प्रथम सन्धिविषय को पढ़कर पश्चात् इसको पढ़ना चाहिये। नामिक इसलिए इसको कहते हैं कि इसमें सुप् के साथ नाम अर्थात् संज्ञा आदि शब्दों का विधान है, और इसी हेतु से 'नाम्नां व्याख्यानो ग्रन्थो नामिकः' यह तद्धितार्थ संगत होता है, क्योंकि यहां नामशब्द से व्याख्यान अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय हुआ है ‡। नामवाचकों का प्रयोगसिद्धि के लिये मुनिवर पाणिनिजी ने प्रातिपदिकसंज्ञा से विधान किया है।

(प्र०) प्रातिपदिकसंज्ञा का क्या फल है ?

(उ०) सुप्, स्त्री और तद्धित प्रत्ययों का विधान होना।

(प्र०) सुप् किसका नाम है ?

(उ०) प्रथमा के एक वचन से लेके सप्तमी के बहुवचन पर्यन्त इक्कीस (२१) प्रत्ययों के संघात का।

(प्र०) सुप् के कितने अर्थ हैं ?

---

† क्रमशः वर्णोच्चारणशिक्षा, संस्कृतवाक्यप्रबोध, व्यवहारभानु और सन्धिविषय के अनन्तर नामिक का स्थान है।

‡ द्व्यजृद्ब्राह्मणर्क्प्रथमाध्वरपुरश्चरणनामाख्याताट्ठक्। स्त्रैण० १९० ॥

(उ०) सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम् ॥ महाभाष्य अध्याय १ । पाद ४ । सू० २१ । आह्निक २ ॥

ये ग्यारह अर्थ सुप् के हैं—कर्म, कर्ता, करण, संप्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और हेतु तथा एकत्व, द्वित्व और बहुत्व ।

(प्र०) शब्द के प्रकार के होते हैं ?

(उ०) नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम् । नैगमरूढिभवं हि सुसाधु ॥ महा० अ० ३ । पा० ३ । सू० १ । आ० १ ॥

तीन प्रकार के अर्थात् यौगिक, रूढ और यौगरूढ, [होते हैं] परन्तु यास्कमुनि आदि निरुक्तकार और वैयाकरणों में शाकटायनमुनि सब शब्दों को धातु से निष्पन्न अर्थात् यौगिक और यौगरूढ ही मानते [हैं] और पाणिनि आदि रूढ भी मानते हैं । परन्तु सब ऋषि मुनि वैदिक शब्दों को यौगिक और योगरूढ तथा [कई] लौकिक शब्दों में रूढ भी मानते हैं ।

(प्र०) उक्त यौगिक, रूढ और योगरूढ इन तीन प्रकार के शब्दों के क्या २ लक्षण हैं ?

(उ०) 'यौगिक' उनको कहते हैं कि जो प्रकृति और प्रत्ययार्थ तथा अवयवार्थ का प्रकाश करते हैं । जैसे—कर्ता, हर्ता, दाता, अध्येता, अध्यापक, लम्बकर्ण, शास्त्रज्ञान, कालज्ञान इत्यादि । 'रूढ' उनको कहते हैं कि जिनमें प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ न घटता हो, किन्तु वे संज्ञाबोधक हों । जैसे—खट्वा, माला, शाला इत्यादि । 'योगरूढ' उनको कहते हैं कि जो अवयवार्थ का प्रकाश करते हुए अपने योग से किसी अर्थ में नियत हों । जैसे—दामोदर, सहोदर, पङ्कज इत्यादि ।

उक्त तीन प्रकार के शब्द नामान्तर से भी प्रसिद्ध हैं अर्थात् जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्द। जातिवाचक उनको कहते हैं कि जिनका योग आकृति और बहुत व्यक्तियों के साथ हो। जाति के दो भेद हैं सामान्यजाति और सामान्यविशेषजाति। 'सामान्यजाति' उसको कहते हैं कि जिसका योग तुल्य आकृति और बहुत समान व्यक्तियों में रहता हो। जैसे—मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि। 'सामान्यविशेषजाति' उसको कहते हैं कि जो पदार्थ किसी में सामान्य और किसी से विशेष हो जैसे मनुष्यादि सामान्यजातियों में स्त्री पुरुष इत्यादि, पशुओं में गौ, हस्ती, अश्व इत्यादि और पक्षियों में हंस, काक इत्यादि। गुणवाची शब्द वे हैं जो द्रव्य के आश्रित [वर्तमान गुणों के वाचक] हों। जैसे—धर्म, अधर्म, संस्कार, शुक्ल, हरित, नील, पीत, रूप, गन्ध, स्पर्श, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान इत्यादि। क्रियाशब्द उनको कहते हैं कि जो चेष्टा अर्थात् व्यापार आदि के वाचक हों। जैसे—भवति, करोति, पचति, आस्ते, शेते इत्यादि। और यदृच्छाशब्द उनको कहते हैं कि कोई मनुष्य यथावत् बोलने में असमर्थ होकर जिनका अन्यथा उच्चारण करे। जैसे—'ऋतक' के बोलने में [असमर्थ] "लृतक" का उच्चारण करते हैं।

(प्र०) इन शब्दों के प्रयोग कितने भेदों से होते हैं?

(उ०) स्त्रीलिङ्ग, पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग इन तीनों भेदों से।

(प्र०) इन भेदों के लक्षण और प्रमाण क्या हैं?

(उ०) स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः। उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम्॥ महा० अ० ४। पा० १। सू० ३॥

जिसके बड़े बड़े लोम हों वह पुरुष, जिसके स्तन और शिर के बाल बड़े २ हों वह स्त्री और जो इन दोनों के मध्यस्थ चिह्न वाला

हो वह नपुंसक कहाता है। पुँल्लिंग के उदाहरण जैसे—पुरुषः, पुरुषौ, पुरुषाः, इत्यादि। स्त्रीलिङ्ग के—अम्बा, अम्बे, अम्बाः, इत्यादि। नपुंसकलिङ्ग के—नपुंसक, नपुंसके, नपुंसकानि, इत्यादि।

(प्र०) इस प्रमाण और लक्षण से मनुष्य आदि चेतनव्यक्तियों में तो लिंगज्ञान होता है परन्तु जड पदार्थों में नहीं, क्योंकि उनमें पुरुष, स्त्री और नपुंसक के चिह्न कुछ भी नहीं देख पड़ते हैं।

(उ०) उनमें भी कचित् २ कुछ २ लिंगों के चिह्न देख पड़ते हैं। जैसे—भागः, भागौ, भागाः, इत्यादि, यहां पुंलिंग का चिह्न 'घञ्'† खट्वा, खट्वे, खट्वाः, नदी, नद्यौ, नद्यः, इत्यादि यहां स्त्रीलिंग के चिह्न 'टाप्' और 'ङीप्' ❀ ज्ञानं, ज्ञाने, ज्ञानानि, यहां 'ल्युट्' ‡ प्रत्यय नपुंसक का चिह्न है। जैसे इन शब्दों में व्याकरण की रीति से प्रत्यय लिंग के द्योतक दिखलाई देते हैं वैसे सर्वत्र वेद, निरुक्त और निघण्टु आदि में निर्देश देखकर शब्दों के लिंगों की व्याख्या यथावत् जाननी उचित है, क्योंकिः—

लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य ॥ महा० अ० २। पा० १। सू० १। आ० १ ॥

लिंगों का [पूर्ण] अनुशासन एक विशेष पुस्तक में नहीं किया जा सकता, अतः लिंगज्ञान के अर्थ वेदादि शास्त्रों [और लोकव्यवहार] का जानना सबको आवश्यक है।

(प्र०) शब्दविषय कितना है?

† 'घञबन्तः' (लिङ्गा० १६) इस सूत्र से घञन्त पुँल्लिङ्ग होता है।

❀ 'अजाद्यतष्टाप्' (स्त्री० २) 'टिड्ढाणञ्०' (स्त्री० ३५) इन सूत्रों से स्त्रीलिङ्ग में टाप् और ङीप् होते हैं।

‡ 'भावे ल्युडन्तः' (लिङ्गा० ११९) इस सूत्र से नपुंसक होता है।

(उ०) सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधाभिन्नाः। एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधा आथर्वणो वेदः। वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः। एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य सन्त्यप्रयुक्ता इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव। एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते॥ महा० अ० १। पा० १। पस्पशाह्निके॥

जो मनुष्य सातद्वीपयुक्त पृथिवी, तीन लोक अर्थात् नाम जन्म और स्थान † सांगोपांग वेद अर्थात् एकसौ एक व्याख्यानयुक्त ‡ यजुः, हजार व्याख्यानयुक्त * साम, इक्कीस व्याख्यानयुक्त ऋक्,

---

† धामानि त्रयाणि भवन्ति। स्थानानि, नामानि, जन्मानि इति। निरुक्त ९। २८। धाम और लोक शब्द पर्याय हैं।

‡ (क) यहां एकसौ एक संख्या में शाखाएं और मूल संहिता दोनों सम्मिलित हैं। इसी प्रकार अगली संख्याओं में भी समझना चाहिये।

(ख) शाखाएं वेद के व्याख्यान ग्रन्थ हैं। देखो सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदसंज्ञाविचारप्रकरण।

* पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने ऐतरेयालोचन पृष्ठ १२७ में इस अर्थ को अशुद्ध बताया है और सामवेद की केवल १३ शाखाएं लिखी हैं। वस्तुतः पं० सत्यव्रत सामश्रमी का ही लेख अशुद्ध है। महाभारत शान्तिपर्व में सामवेद की एक सहस्र शाखाएं लिखी हैं—सहस्रशाखं यत्साम। विशेष देखो, संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास पृ० ८ टि० १।

नव व्याख्यानयुक्त अथर्ववेद, वाकोवाक्य अर्थात् दर्शनशास्त्र, इतिहास, पुराणम् = साम गोपथ ब्राह्मण और वैद्यक अर्थात् चरक सुश्रुत आदि इस बहुत बड़े शब्द के विषय को देखेसुने बिना कोई कहे कि [पाणिनि ने अप्रयुक्त शब्दों का निर्देश किया [है] उसका यह कहना केवल हठ और अज्ञान का भरा हुआ है, क्योंकि जिनका साधारणता से प्रयोग-विषय देखने में नहीं आता वह विद्वानों के देखने मे विस्तीर्ण शब्द-विषय मे आता है ।

१—अथ शब्दानुशासनम् ॥ अ० १ । १ । १ ॥

यहां 'अथ' शब्द अधिकार के लिए है । शब्दों का अनुशासन अर्थात् उनकी शिक्षा का अधिकार किया जाता है । यहां से आगे क्रम से शब्दों का विषय दिखाया जायगा ।

(प्र०) शब्द का लक्षण क्या है ?

(उ०) श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाऽभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः ॥ २ ॥ महा० अ० १ । पा० १ । आ० २ ॥

जिसका कानों मे सुनकर बोध हो, जो बुद्धि से निरन्तर ग्रहण करने के योग्य, उच्चारण से प्रकाशित और आकाश जिसके रहने का स्थान है, वह शब्द कहाता है ।

(प्र०) शब्द के के भेद हैं ?

(उ०) चार अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, इन चारों में से नाम शब्दों का व्याख्यान इस ग्रन्थ मे किया जायगा ।

(प्र०) नामवाचक कौन शब्द हैं ?

(उ०) सत्त्वप्रधानानि नामानि ॥

निरु० १ । १ ॥

जो मुख्यता से सत्त्वप्रधान अर्थात् द्रव्य और गुणों के वाचक शब्द हैं, उनको नाम कहते हैं। जैसे—गौः, अश्वः, पुरुषः, इत्यादि।

(प्र०) व्याकरण में कैसे २ शब्दों का विधान किया जाता है?

२–(उ०) समर्थः पदविधिः ॥ अ० २।१।१॥

पदविधि समर्थ के आश्रित होती है। समर्थ अर्थात् जिसके साथ जिसकी योग्यता हो उसी के साथ उसका पदकार्य होता है। जैसे—'भू-तव्यत्' यहां धातु संज्ञा के विना 'भू' शब्द प्रत्ययविधान में असमर्थ तथा 'तव्यत्' यह कृत् और प्रत्ययसंज्ञा के विना विधान होने ही में असमर्थ है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। तथा जिस पद के साथ जिसकी योग्यता हो उसी से उसका समास होता है। व्याकरण में सब सूत्रों से प्रथम इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है † तत्पश्चात् सुबन्त विषय में प्रातिपदिकसंज्ञा होती है।

[आकारान्त पुंलिंग पुरुष शब्द]

प्रातिपदिकसंज्ञाविधायक सूत्र।

३–अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ॥ अ० १।२।४५॥

यहां 'अर्थवत्' शब्द में 'मतुप्' प्रत्यय नित्ययोग में किया है, क्योंकि शब्द और अर्थ का सनातन संबन्ध है। केवल धातु [प्रत्यय] और प्रत्यय [न्त] से पृथक् [जो] अर्थवान् शब्द [है] वह प्रातिपदिक संज्ञक हो। जैसे—धन, वन इत्यादि।

४–कृत्तद्धितसमासाश्च ॥ अ० १।२।४६॥

† सिद्धान्तकौमुदी के पढ़नेवाले 'समर्थः पदविधिः' सूत्र का सम्बन्ध केवल समासप्रकरण में मानते हैं। यह उनकी भूल है। इसी सूत्र के महाभाष्य में [illegible] रहा है—यावान् व्याकरणे पदगन्धो नाम स सर्वः संगृहीतो भवति।

कृदन्त, तद्धितान्त और समास भी प्रातिपदिक संज्ञक हों। जैसे कृदन्त में 'अधीङ्—तृच्', तद्धित में—'उपगु—अण्', समास में—'राजन्—ङस्' पुरुष—सु' इत्यादि। अव्युत्पन्न व्युत्पन्न दोनों पक्ष में उक्त सूत्रों से प्रातिपदिक संज्ञा होती है ‡।

५—ङ्याप्प्रातिपदिकात् ॥ अ० ४ । १ । १ ॥

यह अधिकारसूत्र है। ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपादिक से स्वादिक, स्त्रीवाचक और तद्धितप्रत्यय होते हैं। उनमें से (स्वादिक) प्रत्यय यथा—

६—स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसांङ्योस्सुप् ॥ अ० ४ । १ । २ ॥

ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिक से 'सु' आदि (१) इक्कीस २१ प्रत्यय हों।

७—सुपः ॥ अ० १ । ४ । १०२ ॥

सुप् प्रत्ययाहार के जो तीन २ वचन हैं वे क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन हों।

८—विभक्तिश्च ॥ अ० १ । ४ । १०३ ॥

तिङ् और सुप् के जो तीन २ वचन हैं, वे विभक्ति संज्ञक हों। अब यथाक्रम से विभक्तियों के रूप लिखते हैं—

---

१ इन्हीं प्रत्ययों के आदि 'सु' से लेकर अन्त्य 'प्' पर्यन्त का नाम 'सुप्' प्रत्याहार है।

‡ व्युत्पत्ति पक्ष सूत्र में संख्या ४ से और अव्युत्पत्तिपक्ष में संख्या ५ से प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

विभक्ति	एक-वचन	द्विवचन	बहु-वचन	विभक्ति	एक-वचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सु	औ	जस्	पञ्चमी	ङसि	भ्याम्	भ्यस्
द्वितीया	अम्	औट्	शस्	षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्
तृतीया	टा	भ्याम्	भिस्	सप्तमी	ङि	ओस्	सुप्
चतुर्थी	ङे	भ्याम्	भ्यस्				

इस प्रकार सातों विभक्तियों के अलग२ रूप जान लेना चाहिये ॥

९–द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने ॥ अ० २।४।२२॥

दो पदार्थों के कहने की इच्छा हो तो द्विवचन और एक पदार्थ के कहने की इच्छा हो तो एकवचन हो। जैसे—पुरुष—सु, पुरुष—अ।

१०–बहुषु बहुवचनम् ॥ अ० १ । ४ । २१ ॥

बहुत पदार्थों के कहने की इच्छा हो तो बहुवचन हो। जैसे—पुरुष-जस्। इनमें से प्रथम 'पुरुष—सु' इसका साधन, जैसे—

११–उपदेशेऽजनुनासिक इत् ॥ अ० १।३।२॥

जो उपदेश में अनुनासिक अच् है वह इत्संज्ञक हो। उपदेश यहां उसको कहते हैं जो धातु, सूत्र और गणों में पाणिन्यादि मुनियों का प्रत्यक्ष कथन है। इस सूत्र से 'सु' इसके उकार की इत्संज्ञा होकर—

१२–तस्य लोपः ॥ अ० १ । ३ । ९ ॥

जिसकी इत्संज्ञा हुई हो उसका लोप हो। लोप होकर 'पुरुष—स्' इस अवस्था में—

१३-सुप्तिङन्तं पदम् ॥ अ० १।४।१४ ॥

जिसके अन्त में सुप् वा तिङ् हो उस समुदाय की पदसंज्ञा हो। इससे सु और तिप् आदि प्रत्ययान्त शब्दों की पदसंज्ञा होती है। तिङन्तों की व्याख्या आख्यातिक में लिखी जायगी। 'पुरुष-स्' इसकी पदसंज्ञा होकर पश्चात्—

१४-ससजुषो रुः ॥ अ० ८।२।६६ ॥

सकारान्त पद और सजुष् शब्द के स् और ष् को रु आदेश हो। 'पुरुष-रु' इस अवस्था में रु के उकार की इत्संज्ञा (१) होकर लोप हो गया—'पुरुष—र्'।

१५-विरामोऽवसानम् ॥ अ० १।४।१०९ ॥

वक्ता की उक्ति का जो विराम अर्थात् ठहरना है उसकी अवसानसंज्ञा हो। जैसे—'पुरुष—र्' इससे रेफ की अवसानसंज्ञा हुई। अवसानसंज्ञा का फल—

१६-खरवसानयोर्विसर्जनीयः ॥अ० ८।३।१५॥

रेफ से परे खर् प्रत्याहार हो वा [और] अवसान में रेफ को विसर्जनीय आदेश हो। इससे रेफ के स्थान में विसर्जनीय हो के—पुरुषः। अब प्रथमा विभक्ति का द्विवचन-'पुरुष—औ'। इस अवस्था में † पूर्व पर को वृद्धि एकादेश(२)होकर—पुरुषौ सिद्ध हुआ। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन—'पुरुष—जस्' इस अवस्था में—

(१) (इत्संज्ञा) उपदेशेऽजनुनासिक इत् [ना० ११] (लोप) तस्य लोपः [ना० १२]।

(२) (वृद्ध्येकादेश) वृद्धिरेचि। सन्धि० १३४।

† 'पुरुष-औ' इस अवस्था में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' [ना० १९] इस वक्ष्यमाण सूत्र से पूर्वसवर्ण प्राप्त होता है। उसका 'नादिचि' (अष्टा० ६।१।१०४) सूत्र से निषेध होने पर वृद्धि एकादेश होता है।

१७—चुटू ॥ अ० १ । ३ । ७ ॥

जो प्रत्यय के आदि में चवर्ग और टवर्ग हों तो उनकी इत्संज्ञा हो। इससे जकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। 'पुरुष—अस्' इस अवस्था में—

१८—न विभक्तौ तुस्माः ॥ अ० १ । ३ । ४ ॥

जो विभक्तियों के अन्त में तवर्ग, स् और म् हैं उनकी इत्संज्ञा न हो। इससे 'पुरुष—अस्' यहां अन्त के सकार की इत्संज्ञा न हुई अब इस अवस्था में ‡—

१९—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ॥ अ० ६।१।१०१॥

जो अक् प्रत्याहार से परे प्रथमा और द्वितीया का अच् हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश हो। जैसे—पुरुषास्। रुत्व, विसर्जनीय होकर—पुरुषाः। अब द्वितीया विभक्ति का एक वचन—'पुरुष—अम्' इस अवस्था में—

२०—अमि पूर्वः ॥ अ० ६ । १ । १०६ ॥

अक् प्रत्याहार से अम् का अच् परे हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वसवर्णरूप एकादेश हो। जैसे—पुरुषम्। द्वितीया का द्विवचन—'पुरुष—औट्'यहां (१)टकार की इत्संज्ञा और लोप तथा अकार औकार को वृद्धि एकादेश होकर—पुरुषौ हुआ। द्वितीया का बहुवचन—'पुरुष—शस्' इस अवस्था में—

(१) इस में टकार अनुबन्ध सुट् प्रत्याहार के लिये है।

‡ यहां 'अतो गुणे' (सन्धि० १५३) अपदान्त अकार से परे गुण परे रहने पर रूप एकादेश हो, इस नियम से गुणरूप एकादेश की प्राप्ति होती है। उसको वक्ष्यमाण (ना० १९) सूत्र परत्व के कारण बाध लेता है।

२१–लशक्वतद्धिते ॥ अ० १ । ३ । ८ ॥

तद्धित से अन्यत्र प्रत्यय के आदि जो लकार शकार और कवर्ग उनकी इत्संज्ञा हो। इत्संज्ञक शकार का लोप हो गया। जैसे—'पुरुष–अस्' इस अवस्था में पूर्व पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ हो के—पुरुषास्।

२२–तस्माच्छसो नः पुंसि ॥ अ० ६।१।१०२॥

[पुँलिंग विषय में] किये हुए पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश से परे शस् प्रत्यय के सकार को नकार आदेश हो। जैसे—पुरुषान् ‡।

अथ तृतीयाविभक्ति का एकवचन—'पुरुष—टा' इस अवस्था में—

२३–यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् ॥ अ० १ । ४ । १३ ॥

जिस धातु वा प्रातिपदिक से परे प्रत्यय का विधान करें उस धातु या प्रातिपदिक का आदिकर जिसके आदि में हो उस [समुदाय] की [प्रत्यय परे रहने पर] अंगसंज्ञा होती है †। [इससे] सु आदि सब प्रत्ययों के परे पूर्व की अंग संज्ञा होती है।

२४–टाङसिङसामिनात्स्याः ॥ अ० ७।१।१२॥

---

‡ यहां वक्ष्यमाण 'अट्कुप्वाङ्०' (ना० २५) सूत्र से णत्व की प्राप्ति होती है उस का 'पदान्तस्य' (अष्टा० ८ । ४ । ३७) 'पदान्त के नकार को णकार नहीं होता' इस नियम से निषेध हो जाता है।

† सूत्र के 'तदादि' पद में उभयपदव्रीही समास (तस्य आदिः तदादिः, तदादि आदिर्यस्य स तदादिः) है। इसलिए 'चि+नु+ति' इस अवस्था में 'ति' परे रहने पर 'नु' विकरण की अङ्ग संज्ञा होने से (चिनोति) में गुण हो जाता है।

अदन्त अंग से परे 'टा, ङसि, ङस्' के स्थान में क्रम से 'इन, आत्, स्य' ये तीन आदेश हों। जैसे—पुरुष—इन। अब पूर्व पर को (१) गुण एकादेश होकर—पुरुषेन।

२५—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ॥ अ० ८।४।२॥

एक पद में अट् प्रत्याहार, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् इनके व्यवधान में भी जो रेफ और षकार से परे नकार हो तो उसके स्थान में णकारादेश हो। जैसे—पुरुषेण। तृतीया विभक्ति का द्विवचन—'पुरुष—भ्याम्' इस अवस्था में—

२६—सुपि च ॥ अ० ७ । ३ । १०२ ॥

जो यञादि सुप् परे हो तो अकारान्त अंग को दीर्घ हो, जैसे—पुरुषाभ्याम्। तृतीया का बहुवचन—'पुरुष-भिस्' इस अवस्था में—

२७—अतो भिस ऐस् ॥ अ० ७ । १ । ९ ॥

जो अकारान्त अंग से परे भिस् हो तो उसको ऐस् आदेश हो। अनेकाल् होने से भिस् मात्र के स्थान में ऐस् हुआ। अब (२), वृद्धि, रुत्व और विसर्जनीय होकर—पुरुषैः।

२८—बहुलं छन्दसि ॥ अ० ७ । १ । १० ॥

परन्तु वैदिक प्रयोगों में भिस् के स्थान में ऐस् आदेश बहुल करके होता है। जैसे—देवेभिः, देवैः। करणेभिः, करणैः इत्यादि। सब अकारान्त शब्दों में दो २ रूप होंगे। चतुर्थी का एकवचन—'पुरुष—ङे' इस अवस्था में—

२९—ङेर्यः ॥ अ० ७ । १ । १३ ॥

---

(१) (गुणः) आद् गुणः। सन्धि० १३३ ॥

(२) (वृद्धिः)—वृद्धिरेचि [सन्धि० १३४] (रुत्व) ससजुषो रुः [ना० १४]।

जो अकारान्त अंग से परे 'ङे' हो तो उसके स्थान में 'य' आदेश हो। जैसे—पुरुष–य। यहां भी (१) दीर्घ होकर—पुरुषाय। द्विवचन—'पुरुष—भ्याम्' पुरुषाभ्याम्। बहुवचन—पुरुष—भ्यस्।

२०—बहुवचने झल्येत् ॥ अ० ७। ३। १०३॥

बहुवचन में झलादि सुप् परे हो तो अकारान्त अंग को एकार आदेश हो। जैसे—पुरुषे—भ्यस्। (२) रुत्व, विसर्जनीय होकर—पुरुषेभ्यः। पञ्चमी का एकवचन–पुरुष–ङसि। ङसि के स्थान में (३) 'आत्' और उससे (४) सवर्णदीर्घादेश होकर। पुरुषात्।† पञ्चमी का द्विवचन—पुरुष–भ्याम्। पूर्ववत् दीर्घ होके—पुरुषाभ्याम्। बहुवचन 'पुरुष-भ्यस्' = पुरुषेभ्यः। षष्ठी का एकवचन—पुरुष—ङस्। इसके स्थान में उक्त सूत्र से 'स्य' आदेश होकर पुरुषस्य। द्विवचन—पुरुष—ओस्।

२१—ओसि च ॥ अ० ७। ३। १०४॥

ओस् विभक्ति परे हो तो अकारान्त अंग को एकार आदेश हो। इससे पुरुष के अन्त्य अकार को एकार होकर—'पुरुषे—ओस्' हुआ। एकार को अय् और सकार को रुत्व विसर्जनीय होकर—पुरुषयोः। बहुवचन पुरुष—आम्।

---

(१) (दीर्घः)—सुपि च [ना० २६]।

(२) (रुत्व) ससजुषो रुः [ना० १४] (विसर्जनीयः) खरवसानयोर्विसर्जनीयः [ना० १६]।

(३) (आत्) टाङसिङसामिनात्स्याः [ना० २४]

(४) (सवर्णदीर्घादेशः) अकः सवर्णे दीर्घः। सन्धि० १२०।

† यहां 'झलां जशोऽन्ते' (सन्धि० १००) सूत्र से जश्त्वादेश होकर 'पुरुषाद्' रूप होता है, पुनः 'वाऽवसाने' (ना० ११०) सूत्र से विकल्प से 'चर्' आदेश होकर 'पुरुषात्, पुरुषाद्' दो रूप होते हैं।

३२—ह्रस्वनद्यापो नुट् ॥ अ० ७ । ३ । ५४ ॥

ह्रस्व, स्वर, नदीसंज्ञक ईकारान्त, ऊकारान्त और आकारान्त से परे आम् को नुट् का आगम हो (१)। टित्त्व धर्म से आम् के आदि में नुट् हुआ। जैसे—'पुरुष—नुट्—आम्' इस अवस्था में (२) उकार और टकार की इत्संज्ञा और लोप होकर—'पुरुष—न्—आम्' नकार में आकार मिल के—पुरुषनाम्।

३३—नामि ॥ अ० ६ । ४ । ३ ॥

नाम् अर्थात् जो षष्ठी का बहुवचन नुट् सहित आम् परे हो तो अजन्त अंग को दीर्घादेश हो। जैसे—पुरुषानाम्। यहां नकार को (३) णकार होके—पुरुषाणाम्। सप्तमी का एकवचन—पुरुष—ङि। (४) ङ् की इत्संज्ञा और लोप होकर अकार और इकार के स्थान में गुण एकादेश एकार हुआ—पुरुषे। द्विवचन—पुरुष—ओस्। पूर्ववत् एकार (५) अय् और स् को रुत्व, विसर्जनीय हो के—पुरुषयोः। सप्तमी का बहुवचन—पुरुष—सुप्। अन्त्य हल् पकार की इत्संज्ञा और पूर्ववत् एकार होकर—'पुरुषेसु' इस अवस्था में—

३४—आदेशप्रत्यययोः ॥ अ० ८ । ३ । ५९ ॥

इण्प्रत्याहार और कवर्ग से परे आदेश और प्रत्यय के सकार को मूर्धन्य अर्थात् षकार आदेश हो। जैसे—पुरुषेषु।

३५—सम्बोधने च ॥ अ० २ । ३ । ४७ ॥

(१) (टित् आदि में) आद्यन्तौ टकितौ। सन्धि० ८० इससे हुआ।

(२) (उकारेत्संज्ञा) उपदेशेऽजनुनासिक इत्। [ना० ११] (टकारेत्संज्ञा) हलन्त्यम्। सन्धि० १६।

(३) (णकार) अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि [ना० २५]।

(४) (ङ् की इत्संज्ञा) लशक्वतद्धिते [ना० २१]।

(५) (अय्) एचोऽयवायावः। सन्धि० १८०।

सम्बोधन (१) अर्थ में भी प्रथमा विभक्ति हो। प्रातिपदिकार्थ से संबोधन अर्थ अधिक होने से (२) प्रथमा विभक्ति प्राप्त न थी, इसलिए यह सूत्र कहा है।

३६–सामन्त्रितम् ॥ अ० २ । ३ । ४८ ॥

सम्बोधन में जो प्रथमा विभक्ति उसकी आमन्त्रित संज्ञा हो।

३७–एकवचनं सम्बुद्धिः ॥ अ० २ । ३ । ४६ ॥

आमन्त्रित प्रथमा विभक्ति के एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा हो। जैसे—पुरुष-सु। उकार की इत्संज्ञा होके-'पुरुष-स्' इस अवस्था में—

३८–एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः ॥ अ० ६ । १ । ६६ ॥

जो एङन्त और ह्रस्वान्त प्रातिपदिक से परे सम्बुद्धि का हल् हो तो उसका लोप हो। संबोधन अर्थ दिखलाने के लिए 'हे, है, अंग, भोस्, भो' इत्यादिक शब्द भी संबोधन प्रथमान्त शब्द के साथ रहते हैं। जैसे—हे पुरुष, हे पुरुषौ, हे पुरुषाः अथवा—पुरुषः, पुरुषौ, पुरुषाः (३)। इसी प्रकार परमेश्वर, शिव, कृष्ण, वृक्ष, घट, पट, ग्रन्थ, वेद, न्याय, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, व्यवहार, परमार्थ इत्यादि अकारान्त पुल्लिंग शब्दों के रूप जानने चाहियें ॥

---

(१) (सम्बोधन) अभ्यन्त चेताने को कहते हैं।

(२) प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा [कार० ४]।

(३) पुरुषः, पुरुषौ, पुरुषाः; पुरुषं, पुरुषौ, पुरुषान्; पुरुषेण, पुरुषाभ्याम्, पुरुषैः; पुरुषाय, पुरुषाभ्याम्, पुरुषेभ्यः; पुरुषात्, पुरुषाभ्याम्, पुरुषेभ्यः; पुरुषस्य, पुरुषयोः, पुरुषाणाम्, पुरुषे, पुरुषयोः, पुरुषेषु; हे पुरुष, हे पुरुषौ, हे पुरुषाः।

अथ नियतनपुंसकलिङ्ग धनशब्द ॥

धन शब्द को पूर्ववत् प्रातिपदिकसंज्ञा आदि कार्य होकर 'धन-सु' इस अवस्था में—

३९—अतोऽम् ॥ अ० ७ । १ । २४ ॥

अकारान्त अङ्ग से परे सु और अम् विभक्तियों के स्थान में अम् आदेश हो । इस अम् करने का यही प्रयोजन है कि सु(१)और अम् का लुक् पाता है सो न हो । धनम् । धन—औ—

४०—नपुंसकाच्च ॥ अ० ७ । १ । १९ ॥

जो अकारान्त नपुंसकलिङ्ग से परे (२)औङ् हो तो उसके स्थान में शी आदेश हो । जैसे—धन-शी । श् की इत्संज्ञा होके—धन-ई । इस अवस्था में † 'आद्गुणः' इस सूत्र से गुण होके—धने । धन—जस्—

४१—जश्शसोः शिः ॥ अ० ७ । १ । २० ॥

जो नपुंसकलिङ्ग प्रातिपदिक से परे जस् और शस् विभक्ति हो तो उनके स्थान में शि आदेश हो । जैसे—धन—शि ।

---

(१) 'स्वमोर्नपुंसकात्' [ना० ७०] इस सूत्र से लुक् प्राप्त था ।

(२) 'औङ्' यह प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के द्विवचन की प्राचीन आचार्यों की संज्ञा है ।

---

† इससे आगे सगति इस प्रकार समझनी चाहिये—नपुंसकलिंग में सुट् की सर्वनामस्थान संज्ञा न होने से 'यचि भम्' (ना० ४५) से भसंज्ञा होकर 'यस्येति' (स्त्रै० ८०६) से अकार लोप प्राप्त होता है, उसका 'औङः श्यां प्रतिषेधः' (वा० ६।४।१४८) वार्तिक से निषेध होता है, उसके पश्चात्—

४२–शि सर्वनामस्थानम् ॥ अ० १ । १ । ४२ ॥

शि सर्वनामस्थान संज्ञक हो। शकार की इत्संज्ञा होके—धन–इ। इस अवस्था में गुण (१) प्राप्त हुआ, उसको बाध के—

४३–नपुंसकस्य झलचः ॥ अ० ७ । १ । ७२ ॥

जो सर्वनामस्थान परे हो तो झलन्त और अजन्त नपुंसकलिङ्ग को नुम् का आगम हो। धन—नुम्—इ। यहाँ मकार और उकार की इत्संज्ञा होके 'धनन्–इ' ऐसा हुआ, इस अवस्था में—

४४–सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ ॥ अ० ६।४।८॥

जो संबुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे हो तो नकारान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो। इस धन शब्द के अन्त को दीर्घ हो के—धनानि। धन—अम्। यहां अम् विभक्ति का लुक् नहीं होता है, किन्तु उसके स्थान में पूर्ववत् अम् आदेश होके प्रथमाविभक्ति के तुल्य—धनम्, धने, धनानि। तृतीयाविभक्ति से लेके सब विभक्तियों में पुरुष शब्द के समान प्रयोग समझना चाहिये। जैसे—धनेन, धनाभ्याम्, धनैः; धनाय, धनाभ्याम्, धनेभ्यः; धनात्, धनाभ्याम्, धनेभ्यः; धनस्य, धनयोः, धनानाम्; धने, धनयोः, धनेषु। संबोधन चेतन ही में घट सकता है इसलिए इसके संबोधन में प्रयोग नहीं बनते †। वस्त्र, शास्त्र, पात्र, फल, वन, जल, सलिल

(१) (गुणः) आद् गुणः। सन्धि० १२३॥

† संबोधन का प्रयोजन स्वाभिमुख्य करना है। अतः संबोधन का प्रयोग चेतन पदार्थों के लिए ही होता है। परन्तु महाभाष्य २। १। २१ के 'अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारः' अर्थात् अचेतन पदार्थों में भी चेतन के सदृश व्यवहार होता है, इस नियम के अनुसार अचेतन पदार्थों के लिए भी संबोधन का गौण प्रयोग होता है। उस अवस्था में धन शब्द के 'हे धन, हे धने, हे धनानि' प्रयोग समझने चाहियें। ग्रन्थकार ने उपर्युक्त महाभाष्य के नियम को मानकर 'अग्नि' शब्द के संबोधन के रूप आगे दर्शाये हैं, अतः स्पष्ट है कि यह मत ग्रन्थकार को भी इष्ट है।

गृह, इत्यादि, नियत नपुंसकलिङ्गों के भी रूप धन शब्द के समान जानना चाहिये।

अकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द कोई भी नहीं है। क्योंकि स्त्रीलिङ्ग मे अकारान्त से टाप् वा ङीप् आदि प्रत्यय हो जाते हैं।

जो अकारान्त धर्म शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग मे है। उसके रूप भी पुरुष और धन शब्द के समान जानना चाहिये। जैसे—धर्मः, धर्मौ, धर्माः; धर्मम्, धर्मौ, धर्मान्; धर्मेण, धर्माभ्याम्, धर्मैः, धर्माय, धर्माभ्याम्, धर्मेभ्यः; धर्मात्, धर्माभ्याम्, धर्मेभ्यः; धर्मस्य, धर्मयोः, धर्माणाम्; धर्मे, धर्मयोः धर्मेषु। नपुंसकलिङ्ग में—धर्मम्, धर्मे, धर्माणि; धर्मम्, धर्मे, धर्माणि इत्यादि।

॥ इत्यकारान्ताः ॥

अथ आकारान्तः सोमपाशब्दः।

सोम ओषधियों के रस को कहते हैं उसको जो पिये वा उसकी रक्षा करे उसका नाम 'सोमपा' है। यह 'सोमपा' शब्द विशेष्य के अनुसार तीनों लिङ्गों में होता है, जैसे—सोमपाः पण्डितः, सोमपाः स्त्री, सोमपं कुलम्। उनमें से प्रथम पुँल्लिङ्ग जैसे—सोमपा—सु। इत्संज्ञा और विसर्जनीय होके—सोमपाः। सोमपा—औ ‡। वृद्धि एकादेश होके—सोमपौ। सोमपा—जस्। जकार की इत्संज्ञा और लोप तथा सकार को विसर्जनीय और दीर्घ एकादेश होके—सोमपाः। यहां एकवचन और बहुवचन मे भेद सभी [प्रतीत] होगा

‡ यहाँ 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (नाः १९) से पूर्वसवर्ण दीर्घादेश की प्राप्ति होती है, उसका 'दीर्घाज्जसि च' (नाः ८३) से निषेध होता है, तत्पश्चात् वृद्धि एकादेश होता है।

जब कि इसके साथ विशेष्यवाची का निर्देश किया जायगा। जैसे—सोमपाः पण्डितः, सोमपाः पण्डिताः। सोमपा—अम्। पूर्वसवर्ण एकादेश होके—सोमपाम्। सोमपौ पूर्ववत्। सोमपा—शस्, इस अवस्था में—

४५—यचि भम् ॥ अ० १। ४। १८ ॥

यकारादि अजादि सर्वनामस्थान भिन्न कप् (१) प्रत्ययावधि स्वादि प्रत्यय परे हों तो पूर्व की भसंज्ञा हो।

४६—आतो धातोः ॥ अ० ६। ४। १४० ॥

भसंज्ञक आकारान्त धातु का लोप हो। जो आदेश सामान्य से विधान किया जाता है वह 'अलोऽन्त्यस्य'† इस परिभाषाबल से अन्त्य वर्ण के स्थान में समझना चाहिए। सोमपा शब्द में 'पा' आकारान्त धातु है, इसके अन्त्य आकार का लोप होके—सोमपः, सोमपा, सोमपाभ्याम्, सोमपाभिः; सोमपे, सोमपाभ्याम्, सोमपाभ्यः, सोमपः, सोमपाभ्याम्, सोमपाभ्यः, सोमपः, सोमपोः, सोमपाम्, सोमपि, सोमपोः, सोमपासु। संबोधन में कुछ विशेष नहीं। हे सोमपाः, हे सोमपौ, हे सोमपाः।

स्त्रीलिङ्ग में भी सोमपा शब्द के प्रयोग ऐसे ही होते हैं परन्तु नपुंसकलिङ्ग में कुछ विशेषता है। सोमपा—सु, इस अवस्था में—

४७—ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य ॥ अ० १।२।४७॥

जो नपुंसकलिङ्ग में वर्तमान अजन्त प्रातिपदिक है उसको ह्रस्वादेश हो। जैसे—सोमप। अब सब विभक्तियों में धन

१. कप्-प्रत्ययावधि पञ्चमाध्याय के 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' [नामा० २११] इस सूत्र तक प्रत्यय लेना चाहिये।

† सन्धि० ८१।

शब्द के समान सब कार्य समझना चाहिये। जैसे—सोमपम्, सोमपे, सोमपानि; सोमपम्, सोमपे, सोमपानि; सोमपेन, सोमपाभ्याम्, सोमपैः; सोमपाय, सोमपाभ्याम्, सोमपेभ्यः; सोमपात्, सोमपाभ्याम्, सोमपेभ्यः; सोमपस्य, सोमपयोः, सोमपानाम्; सोमपे, सोमपयोः, सोमपेषु। इसी प्रकार—गोजा, प्रथमजा, गोधा, कूपखा, दधिक्रा, आज्यपा, कीलालपा इत्यादि शब्दों के भी प्रयोग तीनों लिङ्गों में समझने चाहिये।

आकारान्त कन्या शब्द।

कन्या—सु, इस अवस्था में—

४८—हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्॥

अ० ६। १। ६८॥

हलन्त और दीर्घ ङीप्, ङीष्, ङीन्, टाप्, डाप्, चाप् ये जिनके अन्त में हों उन से परे सु, ति, सि इनका जो अपृक्त † हल् उसका लोप हो। जैसे—कन्या। कन्या—औ, इस अवस्था में—

४९—औङ आपः॥ अ० ७। १। १८॥

जो आबन्त अङ्ग से परे (१) औङ् हो तो उसको शी आदेश हो। शकार की इत्संज्ञा और गुण होके—कन्ये। कन्या—जस्। जकार की इत्संज्ञा, पूर्वसवर्ण दीर्घ* एकादेश, रुत्व, विसर्जनीय होके—कन्याः। कन्या—अम्। पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होके—

१. औङ् यह प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन की पूर्वाचार्यों की संज्ञा है।

† 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' (अष्टा० १। २। ४१) सूत्र से एकवर्ण प्रत्यय की अपृक्त संज्ञा होती है।

* प्रक्रियानुसार यहां 'दीर्घाज्जसि च' (अष्टा०६।१।१०५) से पूर्वसवर्णदीर्घ का प्रतिषेध होकर 'अकः सवर्णे दीर्घः' (अष्टा०६।१।१०१) से सवर्णदीर्घादेश होता है।

कन्याम्। कन्या—औट्। पूर्ववत्—कन्ये। कन्या—शस्। शकार की इत्संज्ञा पूर्वसवर्णदीर्घ रुत्व और विसर्जनीय होके—कन्या। कन्या—टा, इस अवस्था में—

५०—आङि चाऽऽपः ॥ अ० ७। ३। १०५॥

आबन्त अङ्ग से परे टा [और ओस्] विभक्ति हो तो उसको एकार हो। जैसे—कन्ये—टा। टकार की इत्संज्ञा होके—'कन्ये-आ' इस अवस्था में अय् आदेश होकर—कन्यया। कन्याभ्याम्, कन्याभिः। कन्या—ङे, इस अवस्था में—

५१—याडापः ॥ अ० ७। ३। ११३॥

आबन्त अङ्ग से परे ङित् प्रत्यय को याट् का आगम हो। जैसे—कन्या-याट्-ङे। टकार, ङकार की इत्संज्ञा और लोप, तथा वृद्धि एकादेश होके—कन्यायै, कन्याभ्याम्, कन्याभ्यः, कन्यायाः, कन्याभ्याम्, कन्याभ्यः, कन्यायाः। कन्या—ओस्, यहां एकार आदेश, अय्, रुत्व और विसर्जनीय होके—कन्ययोः। कन्या—आम्, (१) कन्यानाम्। कन्या—याट्—ङि, इस अवस्था में—

५२—ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ॥ अ० ७। ३। ११६।

आबन्त, नदीसंज्ञक और नी इन अङ्गों से परे ङि के स्थान में आम् आदेश हो। जैसे—कन्याया—आम्। यहां एकादेश होके—कन्यायाम्, कन्ययोः, कन्यासु। संबोधन में इतना विशेष है कि कन्या—सु।

५३—सम्बुद्धौ च ॥ अ० ७। ३। १०६॥

१ 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' [ना० २२] इससे नुट् होगया।

सम्बुद्धि परे हो तो आबन्त अङ्ग को एकार आदेश हो। जैसे-[कन्ये—सु] पूर्ववत् सकार का लोप होके ‡ हे कन्ये, हे कन्ये, हे कन्याः (१)। इसी प्रकार प्रजा, जाया, छाया, माया, मेधा, अजा इत्यादि आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के प्रयोग जानने चाहिये; परन्तु जरा शब्द में कुछ विशेष है—

५४-जराया जरसन्यतरस्याम् ॥ अ० ७।२।१०१॥

अजादि विभक्तियों से परे जरा शब्द को जरस् आदेश हो विकल्प करके जरा, जरसौ, जरे, जरसः जराः इत्यादि।

॥ इत्याकारान्ताः ॥

इकारान्त नियतपुंलिङ्ग अग्निशब्द ॥

पूर्ववत् सब कार्य होकर—अग्निः। अग्नि—औ, यहाँ (२) पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश ईकार होके—अग्नी। अग्नि—जस्, इस अवस्था में जकार की इत्संज्ञा होके—

५५-जसि च ॥ अ० ७। ३। १०१॥

जो जस् प्रत्यय के परे पूर्व ह्रस्वान्त अङ्ग हो तो उसको गुण हो। इससे इकार को एकार गुण और एकार को अय् आदेश होकर—अग्नयः।

५६-धा०-जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ् णौ चङ्युपधायाः ॥ ५८ ॥

---

१. कन्या, कन्ये, कन्याः; कन्याम्, कन्ये, कन्याः; कन्यया, कन्याभ्याम्, कन्याभिः; कन्यायै, कन्याभ्याम्, कन्याभ्यः; कन्यायाः, कन्ययोः, कन्यानाम्; कन्यायाम्, कन्ययोः, कन्यासु; हे कन्ये, हे कन्ये, हे कन्याः।

२. (पूर्वसवर्ण०) प्रथमयोः पूर्वसवर्णः [मा० १९]।

---

‡ अर्थात् 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (मा० ३८) सूत्र से।

जस् आदि विभक्तियों में इस प्रकरण मे जो कार्य कहे हैं वे वेद में विकल्प करके हों। जैसे—गुण का विकल्प—अग्नयः, (१) अग्न्यः, शतक्रतव , शतक्रत्वः; पशवे, पश्वे। अग्नि—अम्, यहां 'अमि पूर्वः' [ना० २०] इस सूत्र से पूर्वरूप हो के—अग्निम्। अग्नि—औ, पूर्ववत्—अग्नी। अग्नि—शस्। पूर्वसवर्ण दीर्घ और सकार को नकारादेश हो के अग्नीन्। अग्नि—टा।

५७-शेषो घ्यसखि ॥ अ० १ । ४ । ७ ॥

शेष अर्थात् जिनकी नदी संज्ञा न हो ऐसे जो ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्द हैं उनकी घिसंज्ञा हो। इससे अग्नि शब्द की घिसंज्ञा होके—

५८-आङो नाऽस्त्रियाम् ॥ अ० ७ । ३ । १२०॥

जो घिसंज्ञक अङ्ग से परे आङ् अर्थात् टा विभक्ति हो तो उसके स्थान मे ना आदेश हो, स्त्रीलिङ्ग में न हो। अग्निना, अग्निभ्याम्, अग्निभिः। अग्नि—ङे।

५९-घेर्ङिति ॥ अ० ७ । ३ । १११ ॥

ङित्प्रत्यय परे हो तो घ्यन्त अङ्ग को गुणादेश हो। उसको अय् आदेश होके—अग्नये, अग्निभ्याम्, अग्निभ्यः। अग्नि—ङसि। ङकार की इत्संज्ञा और इकार को गुण होके-'अग्ने-अस्' इस अवस्था में—

६०-ङसिङसोश्च ॥ अ० ६ । १ । १०९ ॥

जो पदान्त एङ् से परे [ङसि और] ङस् सम्बन्धी अकार हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो। जैसे—अग्नेः, अग्निभ्याम्, अग्निभ्यः, अग्नेः। अग्नि—ओस्। यहां य् आदेश हो

१. जहाँ गुण नहीं होता है वहाँ "इको यणचि" (सन्धि १०९) इससे यण् आदेश हो जाता है।

गया—अग्न्यो.। अग्नि—आम्। यहाँ (१) नुट् और दीर्घ होकर—'अग्नीनाम्' सिद्ध हुआ। अग्नि—ङि, इस अवस्था में—

६१–अच्च घेः ॥ अ० ७। ३। ११९ ॥

जो घिसंज्ञक इकारान्त उकारान्त शब्द से परे ङि विभक्ति हो तो उसके स्थान में औकार और घिसंज्ञक शब्द के इकार उकार को अकारादेश हो। जैसे—अग्न–औ। वृद्धि एकादेश होके—अग्नौ, अग्न्योः, अग्निषु। संबोधन—अग्नि—सु। यहां सम्बुद्धिसंज्ञा होके—

६२–ह्रस्वस्य गुणः ॥ अ० ७। ३। १०८ ॥

संबुद्धि परे हो तो ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो। इससे गुण हो के "एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः" [ना०३८] इस सूत्र से सकार का लोप हुआ—हे अग्ने, हे अग्नी, हे अग्नयः। यहां संहिता नहीं होती क्योंकि 'हैहेप्रयोगे हैहयोः(२)इस सूत्र से हे की प्लुतसंज्ञा हो के उसको (३)प्रकृतिभाव हो जाता है। इसी प्रकार वह्नि, रवि इत्यादि इकारान्त पुँल्लिङ्गशब्दों का साधुत्व जानना चाहिये। परन्तु पति शब्द में इतना विशेष है—

६३–पतिः समास एव ॥ अ० १। ४। ८ ॥

पति शब्द समास ही में घिसंज्ञक हो। इससे समास से अन्यत्र पति शब्द को घिसंज्ञा के कार्य नहीं होते। पत्या, पत्ये। पति—ङसि, यहां 'पत्यस्' इस अवस्था में—

६४–ख्यत्यात्परस्य ॥ अ० ६। १। १११ ॥

---

१. (नुट्) ह्रस्वनद्यापो नुट् [ना० ३२], (दीर्घ) नामि [ना० ३३]।

२ यह सूत्र अष्टाध्याय [पा० ३, सू० ८५] में प्लुतप्रकरण में कहा है [देखो सन्धि० ३०]।

३ प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (सन्धि० १०१)

जो ख्य और त्य इनमें परे [ङसि और] ङस् सम्बन्धी अकार हो तो उसको उकार आदेश हो। पत्यु। पति—ङि। ङि को (१) औकार आदेश हो गया—पत्यौ। पतिशब्द का वेद में कुछ विशेष है।

६५—षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा ॥ अ० १।४।६॥

षष्ठीयुक्त जो पति शब्द उसकी घिसंज्ञा वेद में विकल्प करके हो, जैसे—भूताना पतये नम, भूताना पत्ये नम।

सखि शब्द में यह विशेष है कि—सखि—सु।

६६—अनङ् सौ ॥ अ० ७।१।९३॥

जो सम्बुद्धिभिन्न सु विभक्ति परे हो तो सखि शब्द को अनङ् आदेश हो। अनङ् आदेश के (अ, ङ्) इनकी इत्संज्ञा और लोप तथा (२) दीर्घ होकर—सखान्—सु। 'हल्ङ्या०भ्यो दीर्घात्०' [ना० ४८] इस सूत्र से स् का लोप और—

६७—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ॥ अ० ८।२।७॥

प्रातिपदिकान्त पद के नकार का लोप हो इस सूत्र से नकार का लोप होके—सखा। सखि—औ, इस अवस्था में—

६८—सख्युरसंबुद्धौ ॥ अ० ७।१।९२॥

असम्बुद्धि में जो सखि शब्द, उससे परे जो सर्वनामस्थान सो णित् हो। इससे णित् होकर—

६९—अचोऽञ्णिति ॥ अ० ७।२।११५॥

ञित् और णित् प्रत्यय परे हों तो अजन्त अङ्ग को वृद्धि हो। जैसे—सखै—औ। अब ऐकार को आय् आदेश होके—सखायौ,

१. (ङि को औकार) 'इदुद्भ्यामौत्' [अष्टा० ७।३।११७,११८] इससे हुआ।

२. (दीर्घ) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ [ना० ४४]।

सखायः, सखायम्, सखायौ। आगे पति शब्द के समान—सखीन्, सख्या, सख्ये, सख्युः, सख्युः, सख्यौ इत्यादि †।

ह्रस्व इकारान्त नियतनपुंसकलिङ्ग वारि शब्द।

वारि—सु, इस अवस्था में—

७०–स्वमोर्नपुंसकात्॥ अ० ७। १। २३॥

जो नपुंसलिङ्ग से परे सु और अम् हों तो उनका लोप हो। वारि। वारि—औ। यहां "नपुंसकाच्च" [ना० ४०] इस सूत्र से औकार के स्थान में शी आदेश और शकार की इत्संज्ञा होके—'वारि—ई' इस अवस्था में—

७१–इकोऽचि विभक्तौ॥ अ० ७। १। ७३॥

जो अजादि विभक्ति परे हो तो इगन्त नपुंसक अङ्ग को नुम् का आगम हो। नुम् होके—वारिणी। वारि—जस्। यहां शि (१) आदेश और दीर्घ (२) हो के। वारीणि। फिर भी द्वितीयाविभक्ति में—वारि, वारिणी, वारीणि, वारिणा, वारिभ्याम्, वारिभिः, वारिणे ‡, वारिभ्याम्, वारिभ्यः; वारिणः, वारिभ्याम, वारिभ्यः; वारिणः, वारिणोः। वारि—आम्। यहां नुट् और नुम् दोनों की

१. (शि आदेश) जश्शसोः शिः [ना० ४१]।

२. (दीर्घ) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ [ना० ४४]।

† जब सखी शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है तब 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति' (परि० ६२) इस परिभाषा से सर्वनामस्थान को णिद्वत् प्राप्त होता है, परन्तु 'विभक्तौ लिङ्गविशिष्टग्रहणं न' (परि० ६३) इस परिभाषा से उसका निषेध होकर—'सखी, सख्यौ, सख्यः, इत्यादि नदी शब्द के समान रूप होते हैं।

‡ यहां नुम् को बाधकर परत्वात् 'घेर्ङिति' (ना० ५६) से गुण प्राप्त था, उसे 'गुणवृद्ध्यौत्ववत्तृज्वद्भावेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन' [महा० ७।१।९५] इस वार्त्तिक से बाधकर नुम् होता है।

प्राप्ति में पूर्वविप्रतिषेध से नुट् (१) होता है। यदि नुम् हो तो पूर्वान्त होने से दीर्घ न हो, वारीणाम्। वारिणि, वारिणोः, वारिषु(२) इसके संबोधन में प्रयोग नहीं बनते, क्योंकि वारि शब्द से जल का ग्रहण होता है। उसके जड़ होने से संबोधन नहीं बन सकता। इसी प्रकार और भी सब नियत नपुंसकलिङ्ग इकारान्त अतिरि आदि शब्दों का साधुत्व जानना चाहिये। परन्तु अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि इन चार नपुंसकलिङ्ग इकारान्त शब्दों के प्रयोग कुछ विशेष होते हैं, उनको लिखते हैं—अस्थि, अस्थिनी, अस्थीनि। फिर भी अस्थि, अस्थिनी, अस्थीनि। अस्थि—टा, इस अवस्था में—

७२—अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ॥

अ० ७ । १ । ७५ ॥

तृतीयादि अजादि विभक्तियों के परे अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि शब्दों को अनङ् आदेश हो [और वह उदात्त हो]। जैसे—अस्थनङ्—टा। इस अवस्था में अ, ङ्, ट्, इनकी इत्संज्ञा हो के

---

१ (नुम्) 'इकोऽचि विभक्तौ' [ना० ७१] इससे प्राप्त हुआ तथा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' [ना० ३२] इससे नुट् प्राप्त हुआ, इन दोनों की युगपत् प्राप्ति में 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (सन्धि० ११५) इस परिभाषा से पर कार्य नुम् ही पाया, उस नुम् को 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' [महा०७।१।९६] इस वार्त्तिक बल से नुम् [को] बाध के पूर्व कार्य नुट् होता है।

२. वारि, वारिणी, वारीणि, वारि, वारिणी, वारीणि, वारिणा, वारिभ्याम्, वारिभिः, वारिणे, वारिभ्याम्, वारिभ्यः, वारिण, वारिभ्याम्, वारिभ्यः, वारिणः वारिणोः, वारीणाम्, वारिणि, वारिणोः, वारिषु।

लोप होगया। उक्त (१) अजादि विभक्तियों में "अस्थन्" इसकी भसंज्ञा होके—

७३—अल्लोपोऽनः ॥ अ० ६ । ४ । १३४ ॥

अजादि विभक्तियों के परे अन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग के अकार का लोप हो। इस से थकारोत्तर अकार का लोप हो गया। जैसे—अस्थ्न्—आ। स्थ्, न्, टा के आकार में मिल के—अस्थ्ना। अस्थ्ने, अस्थ्नः, अस्थ्नः, अस्थ्नोः, अस्थ्नाम्। अस्थ्न्—ङि—

७४—विभाषा ङिश्योः ॥ अ० ६ । ४ । १३६ ॥

ङि और शी विभक्ति के परे भसंज्ञक अन्नन्त अङ्ग के अकार का लोप विकल्प करके हो—अस्थ्नि, अस्थनि, अस्थ्नोः। हलादि विभक्तियों के परे वारि शब्द के समान जानना चाहिये। अस्थि आदि शब्दों की व्यवस्था कुछ वेद में विशेष है—

७५—छन्दस्यपि दृश्यते ॥ अ० ७ । १ । ७६ ॥

वेद में भी अस्थि आदि शब्दों में उदात्त अनङ् आदेश देखने में आता है। यहाँ प्रयोजन यह है कि अनङ् आदेश [जिस] नियम से कहा है। उससे अन्यत्र भी देखने में आता है। जैसे—इन्द्रो दधीचो अस्थभिः, भद्रं पश्येमाक्षभिः, अस्थान्युत्कृत्य जुहोति इत्यादि।

७६—ई च द्विवचने ॥ अ० ७ । १ । ७७ ॥

द्विवचन विभक्ति के परे अस्थि आदि शब्दों को उदात्त ईकार आदेश वेद मे होता है। अक्षी ते इन्द्र पिङ्गले, अस्थीभ्याम्, दधीभ्याम्, सक्थीभ्याम्, अक्षीभ्याम् ते नासिकाभ्याम् (२) इत्यादि।

---

१. अजादि विभक्ति टा, ङे, ङसि, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस्।

२. अस्थि, अस्थिनी, अस्थीनि, अस्थि, अस्थिनी, अस्थीनि, अस्थ्ना, अस्थिभ्याम्, अस्थिभिः, अस्थ्ने, अस्थिभ्याम्, अस्थिभ्यः, अस्थ्नः, अस्थिभ्याम्, अस्थिभ्यः, अस्थ्नः, अस्थ्नोः, अस्थ्नाम्, अस्थ्नि अस्थनि, अस्थ्नोः, अस्थिषु। वेदे—अस्थी, अस्थानि, अस्थीभ्याम्, अस्थभिः, ईदृशान्यपि॥

इकारान्त संख्यावाची नियत बहुवचनान्त त्रिशब्द।

त्रि—जस्। बहुवचन में 'जसि च' इससे गुण होके—त्रयः। [शस् में—त्रीन्] नपुंसकलिङ्ग में जस् और शस् विभक्ति को शि आदेश, नुम का आगम और दीर्घ होके—त्रीणि,त्रीणि। त्रिभिः त्रिभ्यः, त्रिभ्यः। त्रि—आम्। आम् विभक्ति के परे नुट् का आगम होके—त्रि—नाम्, यहां—

७७—त्रेस्त्रयः ॥ अ० ७। १। ५३ ॥

नुट् सहित आम् विभक्ति परे हो तो त्रि शब्द को त्रय आदेश हो। त्रयाणाम्। त्रिषु।

इकारान्त नियतस्त्रीलिङ्ग वेदिशब्द।

वेदिः, वेदी, वेदयः, वेदिम्, वेदी, वेदीः, वेद्या, वेदिभ्याम्, वेदिभिः। 'वेदि—ङे' इस अवस्था में—

७८—ङिति ह्रस्वश्च ॥ अ० १। ४। ६ ॥

स्त्रीलिङ्ग के वाचक ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्द और जिनके स्थान में इयङ् उवङ् होते हैं ऐसे जो [स्त्री शब्द भिन्न] दीर्घ ईकारान्त ऊकारान्त शब्द हैं उनकी नदी संज्ञा विकल्प करके हो। दूसरे पक्ष में ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्दों की घिसंज्ञा भी होती है। इस कारण वेदिशब्द की नदी और घि दोनों संज्ञाएं होती है। प्रथम नदी संज्ञा होकर—

७९—आण्नद्याः ॥ अ० ७। ३। ११२ ॥

नद्यन्त अङ्ग से परे ङित् विभक्ति को आट् का आगम हो। वेदि—आट्—ङे। यण् और वृद्धि एकादेश होके—वेद्यै। जिस पक्ष में नदी संज्ञा न हुई वहां घि संज्ञा होके—वेदि—ङे, यहाँ अग्नि शब्द के समान गुण और अय् आदेश होके—वेदये, वेदिभ्याम्, वेदिभ्यः। वेदि—आट् ङसि, 'ट, ङ, इ' इनकी इत्संज्ञा हो के—

वेद्याः। घि संज्ञा पक्ष में—वेदेः, वेदिभ्याम्, वेदिभ्यः। वेदि—आट्-ङस्, पूर्ववत् वेद्याः, वेदेः; वेद्योः। वेदि—आम्, यहां (१) नुट् हो के—वेदीनाम्। वेदि—ङि—नदी संज्ञा में—वेदि—आट्—आम्† वेद्याम्। घिसंज्ञा में, वेदौ। वेद्योः, वेदिषु (२)। इसी प्रकार श्रुति, स्मृति, बुद्धि, धृति, कृति, व्याप्ति, हानि, रुचि, भूमि और धूलि आदि शब्दों का साधुत्व जानना चाहिये।

॥ इति इकारान्ताः ॥

ईकारान्त पुँल्लिङ्ग सेनानी शब्द।

सेनानी—सु। उकार का लोप, रुत्व और विसर्जनीय होके—सेनानीः। सेनानी—औ—

८०—एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ॥ अ० ६।४।८२॥

जिससे धातु का अवयव संयोग पूर्व न हो ऐसा जो इवर्ण है तदन्त अनेकाच् अङ्ग को अच् परे हो तो यणादेश हो। सेनान्यौ, सेनान्यः; सेनान्यम्, सेनान्यौ, सेनान्यः; सेनान्या, सेनानीभ्याम्, सेनानीभिः; सेनान्ये, सेनानीभ्याम्, सेनानीभ्यः; सेनान्याः सेनानीभ्याम्, सेनानीभ्यः, सेनान्यः, सेनान्योः, सेनान्याम्। सेनानी—ङि,

---

१. नदीसंज्ञा मान के 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' [मा० ६५] इससे नुट् हुआ॥

२. वेदिः, वेदी, वेदयः; वेदिम्, वेदी, वेदीः; वेद्या, वेदिभ्याम्, वेदिभिः; वेद्यै वेदये, वेदिभ्याम्, वेदिभ्यः; वेद्याः वेदेः, वेदिभ्याम्, वेदिभ्यः; वेद्याः वेदेः, वेद्योः, वेदीनाम्; वेद्याम्, वेदौ, वेद्योः, वेदिषु।

---

† यहाँ 'इदुद्भ्याम्' (अष्टा० ७।३।११७) से नदीसंज्ञक इकारान्त उकारान्त शब्द से परे ङि को आम् होता है, इस नियम से आम् आदेश समझना चाहिये।

यहाँ नी से परे ङि को आम् (१) आदेश होके—सेनान्याम्। सेनान्योः, सेनानीषु। संबोधन में यहां कुछ विशेष नहीं है। हे सेनानीः, हे सेनान्यौ, हे सेनान्यः। इसी प्रकार ग्रामणी, अग्रणी यवनी, सधी इत्यादि शब्दों के रूप भी जानना, परन्तु ग्रामणी शब्द में यह विशेष है कि—

८१–श्रीग्रामण्योश्छन्दसि ॥ अ० ७। १। ५६ ॥

वेद में श्री और ग्रामणी शब्द से परे आम् हो तो उसको नुट् आगम होता है। जैसे—(२) श्रीणाम्, ग्रामणीनाम्। और सुधी शब्द में यह विशेष है कि—सुधी—सु—सुधीः। (३) सुधी—औ—

८२–न भूसुधियोः ॥ अ० ६। ४। ८५ ॥

अजादि विभक्ति के परे भू और सुधी शब्द को यणादेश न हो। यणादेश के निषेध होने से इयङ् उवङ् आदेश होते हैं। सुधियौ, सुधियः; सुधियम्, सुधियौ, सुधियः; सुधिया, सुधिये, सुधियः, सुधियः, सुधियाम्, सुधियि, सुधियोः, सुधीषु। संबोधन में यहाँ भी कुछ विशेष नहीं। भू शब्द का साधुत्व आगे आवेगा। सुधी और भू शब्द का वेद में यह विशेष है कि—

८३–छन्दस्युभयथा ॥ अ०। ६। ४। ८६ ॥

१. (आम्) ङेराम्नद्याम्नीभ्यः [आ० ५२]।

२. श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम्। अन्यत्र सूतग्रामणीनाम्। ग्रामणीः, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः, ग्रामण्यम्, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः; ग्रामण्या, ग्रामणीभ्याम्, ग्रामणीभिः; ग्रामण्ये, ग्रामणीभ्याम्, ग्रामणीभ्यः, ग्रामण्यः, ग्रामणीभ्याम्, ग्रामणीभ्यः; ग्रामण्यः, ग्रामण्योः, ग्रामण्याम्, ग्रामण्याम्, ग्रामण्योः, ग्रामणीषु, हे ग्रामणीः, हे ग्रामण्यौ, हे ग्रामण्यः।

३. सुष्ठु ध्यायतीति सुधीः पण्डितः। सुष्ठु ध्यायति या, सुष्ठु ध्या-धीर्यस्या वेति विग्रहे धीपद।

वैदिकप्रयोग विषय में अजादि विभक्तियों के परे भू और सुधी शब्द को यणादेश विकल्प करके हो। सुध्यौ, सुधियौ; सुध्यः, सुधियः इत्यादि। सेनानी आदि शब्द यदि स्त्रीलिङ्ग के विशेषण हों तो इनके प्रयोगों में कुछ विशेषता नहीं है, और नपुंसकलिङ्ग हों तो इनके प्रयोग वारि शब्द के समान होते हैं, क्योंकि नपुंसकलिङ्ग में उक्त ह्रस्व इकारान्त हो जाते हैं।

अब जो शब्द नियतस्त्रीलिङ्ग ईकारान्त हैं उनके विषय में लिखते हैं—

अथ नियत ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग कुमारी शब्द।

कुमारी—सु, यहाँ उकार की इत्संज्ञा और लोप तथा ङीबन्त से अपृक्त हल् सु का (१) लोप होकर—कुमारी। कुमारी—औ—

८४—दीर्घाज्जसि च॥ अ० ६। १। १०४॥

दीर्घ से परे जस् वा इजादि विभक्ति हों तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश न हो। यहाँ कुमारी दीर्घ ईकारान्त शब्द है, इससे पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध होकर यणादेश होता है। जैसे—कुमार्यौ, कुमार्यः। दीर्घ ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्दों का जस् विभक्ति के परे वेद में यह विशेष है—

८५—वा–छन्दसि॥ अ० ६। १। १०५॥

जो दीर्घ से परे जस् हो तो उसको पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश विकल्प करके हो। जैसे—कुमारीः, कुमार्यः, वधूः, वध्वः इत्यादि। कुमारीम्, कुमार्यौ, कुमारीः; कुमार्या, कुमारीभ्याम्, कुमारीभिः। कुमारी—ङे, यहाँ—

१. हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् [ना० ४८]।( )

८६—यू स्त्र्याख्यौ नदी ॥ अ० १ । ४ । ३ ॥

जो [नियत] स्त्रीलिङ्ग के वाचक ईकारान्त [ऊकारान्त] शब्द हैं उनकी नदी संज्ञा हो । (१) कुमार्यै, कुमारीभ्याम्, कुमारीभ्यः; कुमार्याः, कुमारीभ्याम्, कुमारीभ्यः, कुमार्याः, कुमार्योः । कुमारी—आम् । (२) नुट् होके—कुमारीणाम् । कुमार्याम्, कुमार्योः, कुमारीषु । संबोधन में अपृक्त हल् सु का लोप होकर—

८७—अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ॥ अ० ७ । ३ । १०७ ॥

सम्बुद्धि परे हो तो अम्बार्थ और नदीसंज्ञकों को ह्रस्वाऽऽदेश हो । हे (३) कुमारि, हे कुमार्यौ, हे कुमार्यः । जो ईकारान्त ङीप्, ङीष्, ङीन् प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द हैं उनको कुमारी शब्द के तुल्य समझना चाहिये । जैसे—नदी, सरस्वती, ब्राह्मणी, आसुरी, किशोरी, वधूटी, चिरण्टी, कर्त्री इत्यादि । परन्तु ईकारान्त स्त्री शब्द के प्रयोग कुछ विशेष होते हैं । जैसे—स्त्री—सु । पूर्ववत् कार्य होकर—स्त्री । स्त्री—औ, इस अवस्था में—

८८—स्त्रियाः ॥ अ० ६ । ४ । ७६ ॥

जो अजादि प्रत्यय परे हो तो स्त्री शब्द को इयङ् आदेश हो । स्त्रियौ, स्त्रियः । स्त्री—अम्, इस अवस्था में—

८६—वाऽम्शसोः ॥ अ० ६ । ४ । ८० ॥

अम् और शस् प्रत्यय परे हो तो स्त्री शब्द को इयङ् आदेश विकल्प करके हो । स्त्रियम् । जिस पक्ष में इयङ् न हुआ वहाँ पूर्वरूप एकादेश होकर—स्त्रीम्, स्त्रियौ, स्त्रियः, स्त्रीः; स्त्रिया । स्त्री—ङे—

(१) नद्यन्त मानकर 'आण्नद्याः' [ना० ७९] इससे [आट् का] आगम हो गया ।

(२) 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' [ना० ३५] इससे नुट् होगया ॥

(३) 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सन्धि ९१ । इस परिभाषा से प्रत्ययलक्षण मानकर ह्रस्व हुआ ।

६० — नेयडुवङ्स्थानावस्त्री ॥ अ० १।४।४॥

जिन स्त्रीलिङ्ग ईकारान्त ऊकारान्त शब्दों के स्थान में इयङ्, उवङ् आदेश होते हैं वे नदीसञ्ज्ञक न हों, परन्तु स्त्री शब्द तो नदीसंज्ञक हो। स्त्री—आट्—ङे—स्त्रियै। स्त्रियाः, स्त्रियाः, स्त्रियोः, स्त्रीणाम्, स्त्रियाम्, स्त्रियोः, स्त्रीषु। सम्बोधन में नदीसंज्ञा के होने से ह्रस्व (१) होगया—हे स्त्रि, हे स्त्रियौ, हे स्त्रियः। और जो ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग दूसरे प्रकार के हैं—"अवी, तरी, स्तरी, तन्त्री, ययी, पपी, लक्ष्मी, श्री" ये भी कुमारी शब्द के समान हैं परन्तु इनसे परे सु अपृक्त हल् लोप नहीं होता क्योंकि ये ङीप्, ङीष् वा ङीन् प्रत्ययान्त शब्द नहीं हैं। और इन दूसरे प्रकार के शब्दों में एक श्री शब्द में कुछ विशेष है। जैसे—श्री—सु—श्रीः। श्री—औ—

६१ अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ॥ अ० ६। ४। ७७॥

जो अजादि प्रत्यय परे हों तो श्नुप्रत्ययान्त धातु और भ्रू शब्द इनके इवर्ण उवर्णको इयङ् और उकार को उवङ् आदेश हों। जैसे—(२) श्रियौ, श्रियः, श्रियम्; श्रियौ, श्रियः, श्रिया। श्री—ङे—(३) श्रियै; श्रिये; श्रियाः श्रियः; श्रियाः, श्रियः; श्रियोः। श्री—आम्, इस अवस्था में—

---

(१) (ह्रस्व) अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः [ना० ८०]।

(२) क्विप्-प्रत्ययान्त शब्द प्रातिपदिकसंज्ञक होके भी धातुसंज्ञा का त्याग नहीं करते हैं।

(३) 'ङिति ह्रस्वश्च' [ना० ७७] इस सूत्र से विकल्प करके नदीसंज्ञा होगई।

९२ ध्याऽऽमि ॥ अ० १ । ४ । ५ ॥

[स्त्री शब्द को छोड़कर] इयङ् उवङ् स्थानी स्त्रीवाचक ईका-रान्त ऊकारान्त शब्द आम् विभक्ति के परे विकल्प करके नदीसंज्ञक हों। नदी संज्ञापक्ष में—श्रीणाम्। अन्यत्र—श्रियाम्। वेद में (१) 'श्रीणाम्' यह एक ही प्रयोग [विशेष] होता है। श्री—ङि। नदी-संज्ञापक्ष में—श्रियाम्। अन्यत्र—श्रियि। श्रियोः, श्रीषु। हे श्रीः, हे श्रियौ, हे श्रियः।

॥ इति ईकारान्ताः ॥

अथ उकारान्त पुँल्लिङ्ग वायु शब्द ॥

वायुः। वायु—औ, पूर्वसवर्णदीर्घ होकर—वायू। वायु—जस्, घिसंज्ञा होने से गुण और "एचोऽयवायावः" † इस सूत्र से अवादेश होके—वायवः। वायु—अम्, (२) पूर्वरूप एकादेश—वायुम्। वायू। वायु—शस्, पूर्वसवर्ण दीर्घ (३) और सकार को नकार आदेश होकर—वायून्। वायुना, वायुभ्याम्, वायुभिः; वायवे, वायुभ्याम्, वायुभ्यः। वायु—ङसि, गुण और पूर्व (४) रूप एकादेश होके—वायोः। वायुभ्याम्, वायुभ्यः; वायोः। वायु—ओस्, यणादेश होके—वाय्वोः। वायूनाम्। वायु—ङि, ङि को (५) औकार तथा उकार को अकार होकर वृद्धि एकादेश हुआ—वायौ। वाय्वोः, वायुषु। सम्बोधन में—वायु—स्, गुण और

(१) 'श्रीग्रामण्योश्छन्दसि' [ना० ८२] इससे नित्य नुट् होगया।
(२) अमि पूर्वः [ना० २०]।
(३) (सकार को नकारादेश) तस्माच्छसो नः पुंसि [ना० २२]।
(४) 'ङसिङसोश्च' [ना० ६०] इससे पूर्वरूप हुआ।
(५) (ङि—औ, उ—अ) अच्च घेः [ना० ६१]।

† सन्धि० १८०।

अपृक्त हल् लोप होकर (१) हे वायो, हे वायू, हे वायवः। इसी प्रकार "विभु, प्रभु, भानु, गुरु, शत्रु" इत्यादि उकारान्त, पुँलिङ्ग शब्दों का साधुत्व समझना। परन्तु उकारान्त, क्रोष्टु शब्द में कुछ विशेष है—

९३—तृज्वत्क्रोष्टुः ॥ अ० ७।१।९५ ॥

जो संबुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे हो तो क्रोष्टु शब्द तृच् प्रत्ययान्तवत् (२) हो। क्रोष्टु ऋकारान्त क्रोष्टृ शब्द के समान हो जाता है। क्रोष्टा, † क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः, क्रोष्टारम्, क्रोष्टारौ। यहां संबुद्धिभिन्न इसलिये है कि—हे क्रोष्टो। सर्वनामस्थान इसलिए है कि—क्रोष्टून्, यहां तृज्वद्भाव न हुआ।

९४—विभाषा तृतीयादिष्वचि ॥ अ० ७।१।९७॥

तृतीयादि अजादि विभक्तियों के परे क्रोष्टु शब्द को तृज्वद्भाव विकल्प करके हो। क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना। क्रोष्टु—आम्। यहाँ (३) नुट् और तृज्वद्भाव दोनों प्राप्त हुए तो नुट् हुआ।

अथ उकारान्त नपुंसकलिङ्ग वस्तु शब्द ॥

वस्तु—सु, सु का लुक् होके—वस्तु। द्विवचन में शी आदेश, शकार की इत्संज्ञा और "नपुंसकस्य झलचः" ‡ इससे नुमागम

(१) (गुण) ह्रस्वस्य गुणः [ना० ६२] (सलोप) एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः [ना० २८]।

(२) यह तृज्वत् अतिदेश रूपातिदेश है अर्थात् तृच् प्रत्ययान्त क्रुश् धातु का जो रूप है उसका अतिदेश किया है।

(३) तृज्वद्भाव परत्व से प्राप्त था, उसको बाध के पूर्व विप्रतिषेध अर्थात् "नुमचिर०" इस वार्तिक [पृष्ठ १८, टि० ३] बल से नुट् हुआ।

† इनकी साधनिका ऋकारान्त प्रकरण में लिखी जायगी।

‡ ना० ५३।

होके—वस्तुनी। वस्तु—जस्, [जस्] के स्थान में शि आदेश और पूर्व को नुमागम—वस्तु—नुम्—इ = वस्तूनि। ऐसे ही द्वितीया में—वस्तु—टा, घिसंज्ञा (१) और उससे परे टा के स्थान में ना आदेश होकर—वस्तुना। वस्तुभ्याम्, वस्तुभिः; वस्तुने, वस्तुभ्याम्, वस्तुभ्यः; वस्तुनः, वस्तुभ्याम्, वस्तुभ्यः; वस्तुनः, वस्तुनोः, वस्तूनाम्; वस्तुनि; वस्तुनोः, वस्तुषु। जड़भाव से संबोधन नहीं होता। इसी प्रकार 'श्मश्रु, जानु, स्वादु, अश्रु, जतु, त्रपु, तालु' इत्यादि नियत नपुंसकलिङ्ग शब्दों के प्रयोग भी जानना।

अथ उकारान्त नियतस्त्रीलिङ्ग धेनुशब्द॥

धेनुः, धेनू, धेनवः; धेनुम्; धेनू, धेनूः, धेनु—टा, टकार की इत्संज्ञा और यण् होके—धेन्वा, धेनुभ्याम्, धेनुभिः, धेनु—ङे—यहाँ विकल्प करके (२) नदी संज्ञा और द्वितीया पक्ष में घिसंज्ञा होने से दो दो प्रयोग होते हैं, अर्थात् धेन्वै (३) धेनवे, धेनुभ्याम्, धेनुभ्यः, धेन्वाः, धेनोः, धेनुभ्याम्, धेनुभ्यः; धेन्वाः। धेनोः, धेन्वोः, धेनूनाम्; धेन्वाम्, धेनौ, धेन्वोः, धेनुषु। संबोधन में गुण होके—हे धेनो, हे धेनू, हे धेनवः। इसी प्रकार—'रज्जु, सरयु, कुहु, तनु, रेणु' इत्यादि शब्दों के प्रयोग भी जानने चाहियें।

॥ इत्युकारान्ताः ॥

दीर्घ ऊकारान्त शब्द तीन प्रकार के होते हैं—धात्वन्त, उणादि-प्रत्ययान्त और नियत स्त्रीवाचक [ऊङ्] प्रत्ययान्त। जैसे—धात्वन्त परिभूः, उणादि प्रत्ययान्त—कर्पूः, नियत स्त्रीवाचक [ऊङ्]

(१) घिसंज्ञा, टा—ना—शेषोघ्यसखि [ना० ५७], आङोना-स्त्रियाम् [ना० ५८]।

(२) (नदीसंज्ञा विकल्प) ङिति ह्रस्वश्च [ना० ७९]

(३) 'घेर्ङिति' [ना० ६२] इससे गुणादेश होजाता है।

प्रत्ययान्त—ब्रह्मबन्धूः इत्यादि। उनमें से धातवन्त 'परिभू' शब्द के प्रयोग पुँलिङ्ग में दिखलाते हैं। परिभू—सु—परिभूः। परिभू—औ, यहां (३) उवङ् आदेश होके—परिभुवौ। परिभुवः, परिभुवम्, परिभुवौ, परिभुवः; परिभुवा, परिभूभ्याम्, परिभूभिः; परिभुवे, परिभूभ्याम्, परिभूभ्यः, परिभुवः, परिभूभ्याम्, परिभूभ्यः, परिभुवः, परिभुवोः, परिभुवाम्, परिभुवि, परिभुवोः, परिभूषु। यहाँ संबोधन में कुछ विशेष नहीं। वर्षाभू, दृन्भू, कारभू, पुनर्भू, इन चार शब्दों के प्रयोग कुछ विशेष होते हैं। वर्षाभूः। वर्षाभू—औ—

९५—वर्षाभ्वश्च ॥ अ० ६। ४। ८४॥

अजादि सुप् विभक्तियों के परे वर्षाभू शब्द के ऊकार को यणादेश हो। वर्षाभ्वौ, वर्षाभ्वः, वर्षाभ्वम्, वर्षाभ्वौ, वर्षाभ्वः; वर्षाभ्वा, वर्षाभूभ्याम्, वर्षाभूभिः; वर्षाभ्वे, वर्षाभूभ्याम्, वर्षाभ्यः, वर्षाभ्वः, वर्षाभूभ्याम्, वर्षाभूभ्यः, वर्षाभ्वः, वर्षाभ्वोः, वर्षाभ्वाम्; वर्षाभ्वि, वर्षाभ्वोः, वर्षाभूषु, हे वर्षाभूः †, हे वर्षाभ्वौ, हे वर्षाभ्वः। दृन्भू। दृन्भू—औ, इस अवस्था में—

९६—वा०—दृन्कारपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः॥६।४॥

अजादि सुप् विभक्तियों के परे दृन्, कार,‡ पुनर् ये हैं पूर्व जिसके ऐसे भूशब्द के ऊकार का यणादेश हो। जैसे—दृन्भ्वौ,

(३) (उवङ्) अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ [ना० ९२]।

† वर्षाभू शब्द मेंढक जाति और पुनर्नवा (गदापुरनी, इटसिट) अर्थ में स्त्रीलिङ्ग होता है तथा मेंढक व्यक्ति अर्थ में पुँलिङ्ग। मेंढक जाति अर्थ में नियत स्त्रीलिङ्ग होने से सम्बुद्धि मे 'हे वर्षाभू' प्रयोग होता है, और अन्यत्र 'हे वर्षाभुः'।

‡ कई वैयाकरण वार्त्तिक में 'कार' के स्थान में 'कर' पढ़ते हैं। उन के मत में 'करभू' शब्द में उक्त कार्य समझना चाहिये।

द्न्भ्वः । कारभूः, कारभ्वौ, कारभ्वः । पुनर्भूः, पुनर्भ्वौ, पुनर्भ्वः इत्यादि । वेद में पुनर्भू आदि शब्दों के प्रयोगों में उवङ् और यण् (१) दोनों आदेश होते हैं, जैसे—पुनर्भुवौ, पुनर्भ्वौ; पुनर्भुव, पुनर्भ्वः; पुनर्भुवम्, पुनर्भ्वम् इत्यादि । उक्त ऊकारान्त शब्द विशेष्य लिङ्ग के आश्रय से तीनों लिङ्गों में हो सकते हैं । ऊकारान्त अनियत स्त्रीवाचकों को स्त्रीलिङ्ग में कुछ विशेष कार्य नहीं होते हैं । यदि वे नपुंसकलिङ्ग में आवें तो उनको (२) ह्रस्वादेश होकर वे प्रयोग विषय में वस्तु शब्द के समान हो जाते हैं । और उणादिप्रत्ययान्त कर्पू, इत्यादिकों में यदि कोई पुँलिङ्ग (३) समझा आवे तो उसके प्रयोग 'परिभू' शब्द के समान समझने चाहियें ।

और नियत स्त्रीलिङ्ग ऊङ्—प्रत्ययान्त-ब्रह्मबन्धू । ब्रह्मबन्धू—औ, यहाँ यण् होके—ब्रह्मबन्ध्वौ, ब्रह्मबन्ध्वः । ब्रह्मबन्धू—अम्, यहाँ (४) पूर्वरूप एकादेश होके—ब्रह्मबन्धूम् । ब्रह्मबन्ध्वौ, ब्रह्मबन्धूः; ब्रह्मबन्ध्वा, ब्रह्मबन्धूभ्याम्, ब्रह्मबन्धूभिः । ङित् वचनों में नदी संज्ञादि (५) कार्य होकर—ब्रह्मबन्ध्वै, ब्रह्मबन्धूभ्याम्, ब्रह्मबन्धूभ्यः; ब्रह्मबन्ध्वाः, ब्रह्मबन्धूभ्याम्, ब्रह्मबन्धूभ्यः, ब्रह्मबन्ध्वाः, ब्रह्मबन्ध्वोः, ब्रह्मबन्धूनाम्, ब्रह्मबन्ध्वाम्, ब्रह्मबन्ध्वोः, ब्रह्मबन्धूषु । सम्बुद्धि में (६) ह्रस्व होकर—हे ब्रह्मबन्धु, हे ब्रह्मबन्ध्वौ, हे ब्रह्म-

(१) (यण्, उवङ्) छन्दस्युभयथा [ना० ८३] ।

(२) (ह्रस्व) ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य [ना० ४७] ।

(३) (कर्पू) यह करीषाग्नि में पुँलिङ्ग और नदी अर्थ में स्त्रीलिङ्ग है ।

(४) (पूर्वरूप) अमि पूर्वः [ना० २०] ।

(५) (नदीसंज्ञा) यू स्त्र्याख्यौ नदी [ना० ८६] तथा नद्यन्त को मान कर आट् इत्यादि कार्य होते हैं ।

(६) (ह्रस्व) अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः [ना० ८७] ।

चम्वः। इसी प्रकार—वधू, चमू, श्मश्रू, संहितोरू, वामोरू, कमण्डलू, गुग्गुलू, दर्दू इत्यादि ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें।

॥ इत्यूकारान्ताः ॥

ऋकारान्त नियतपुल्लिङ्ग पितृशब्द ॥

ऋकारान्त शब्द दो (१) प्रकार के होते हैं। अर्थात् एक वे जिनको सर्वनामस्थान में दीर्घ होता है, और दूसरे [वे जिन] को नहीं होता। ये दोनों प्रकार के शब्द लिङ्गभेद से तीनों लिङ्गों में आते हैं। पितृ आदि शब्दों को सर्वनामस्थान के परे दीर्घादेश नहीं होता। जैसे—पिता = पितृ—सु—

६७—ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च॥ अ० ७।१।९४॥

ऋकारान्त, उशनस्, पुरुदंसस् और अनेहस् शब्दों को संबुद्धि-भिन्न सु विभक्ति के परे अनङ् आदेश हो। अनङ् होके—पित†—अनङ्—सु। [नकारस्थ] अकार तथा ङकार की इत्संज्ञा और तकार अकार में मिल के—पितन्—सु। यहाँ नान्त (२) अङ्ग को दीर्घ

(१) दीर्घादेशप्रकरण के—अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तॄणाम् ॥ अ० ६।४।११॥

इस सूत्र में नप्तृ आदि शब्दों का ग्रहण अव्युत्पत्तिपक्ष में दीर्घादेश विधान के लिये [है] और व्युत्पत्ति पक्ष में नियम के लिये है। जो उणादि तृन्तृजन्त शब्दों को दीर्घादेश हो तो नप्त्रादिकों को ही हो। इससे पितृ, भ्रातृ, जामातृ इत्यादि शब्दों को सर्वनामस्थान के परे दीर्घादेश नहीं होता † और [अष्टाध्यायीस्थ] कर्तृ, स्तोतृ आदि शब्दों को होता है। जैसे—कर्त्ता, कर्त्तारौ; स्तोता, स्तोतारौ इत्यादि।

(२) (नान्त अङ्ग को दीर्घ) सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ [ना० ४४] (नलोप) नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य [ना० ६६]।

† ङित् होने से अनङ् अन्त्य ऋ के स्थान में होता है।

और नकार का लोप होके—पिता। पितृ—औ—

९८—ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः॥ अ० ७।३।११०॥

ङि और सर्वनामस्थान परे हो तो ऋकारान्त अङ्ग को गुणादेश हो। ऋकार के स्थान मे 'अर्' गुण होके—पितरौ, पितरः, पितरम्, पितरौ। पितृ—शस्। यहा शकार की इत्सञ्ज्ञा, पूर्व सवर्ण (१) दीर्घ एकादेश, और सकार को नकारादेश होके—पितॄन्। पितृ—टा। टकार की इत्संज्ञा ऋ के स्थान मे (२) र् आदेश होके—पित्रा। पितृभ्याम्, पितृभिः, पित्रे, पितृभ्याम्, पितृभ्य.। पितृ-ङसि, यहाँ—

९९—ऋत उत्॥ अ० ६।१।११०॥

जो ऋकारान्त से परे ङसि, ङस् सम्बन्धी अकार हो तो पूर्व पर के स्थान में उकार एकदेश हो। फिर उकार (३) रपर हुआ। जैसे—पितुर्स्—

१००—रात्सस्य॥ अ० ८।२।२४॥

रेफ से परे सयोगान्त सकार का ही लोप हो। सकार का लोप और रेफ को विसर्जनीय होके—पितु:। पितृभ्याम्, पितृभ्यः, पितु:, पित्रो.। पितृ—आम्। यहां (४) नुट् और दीर्घ होके—

(१) (पूर्वसवर्णदीर्घ) प्रथमयो पूर्वसवर्णं [ना० १९]।

(२) (र्) इको यणचि। सन्धि० १०९।

(३) (रपर) उरण् रपर.। सन्धि० ८५।

(४) (नुट्) ह्रस्वनद्यापो नुट् [ना० ३२] (दीर्घ) नामि [ना० ३३]।

† इस नियम से 'उद्गातृ' शब्द को भी दीर्घादेश प्राप्त नहीं होता, परन्तु 'समर्थः पदविधिः' (अष्टा० २।१।१) के महाभाष्य में 'उद्गातार' प्रयोग दीर्घादेश का ज्ञापक है।

१०१—वा०—रषाभ्यां णत्वे ऋकारग्रहणम् ॥ ८।४।१ ॥

र, ष से परे णत्व विधान में ऋकार ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् एकपद में ऋकार से परे भी नकार के स्थान में णकारादेश हो। जैसे—पितॄणाम् ॥ पितृ—ङि। गुण (१) और रपर होके—पितरि। पित्रोः, पितृषु। संबोधन में—संबुद्धि (२) गुण होके—हे पितः, हे पितरौ, हे पितरः। इसी (३) प्रकार 'भ्रातृ, जामातृ' इत्यादि संज्ञा शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें। परन्तु 'नृ' शब्द को आम् विभक्ति के परे जो कुछ विशेष होता है सो लिखते हैं—

१०२—नृ च ॥ अ० ६।४।६॥

नुट्सहित आम् विभक्ति के परे नृ शब्द के ऋकार को विकल्प करके दीर्घ हो। जैसे—नृणाम्, नॄणाम्। संबोधन में—हे नः, हे नरौ, हे नरः। दूसरे (४) प्रकार के ऋकारान्त शब्दों में—ऋकारान्तपुंलिङ्ग 'होतृ' शब्द। होतृ—सु, पूर्ववत् प्रातिपदिकसंज्ञादि तथा अनङादेशादि कार्य्य होकर—होता। होतृ—औ, यहाँ गुण होके—होतर्—औ।

---

(१) (गुण) ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः [ना० ९८]।

(२) (संबुद्धिगुण) ह्रस्वस्य गुणः [ना० ५९]।

(३) पिता, पितरौ, पितरः, पितरम्, पितरौ, पितॄन्, पित्रा, पितृभ्याम्, पितृभिः, पित्रे, पितृभ्याम्, पितृभ्यः, पितुः, पितृभ्याम्, पितृभ्यः, पितुः, पित्रोः, पितॄणाम्, पितरि, पित्रोः, पितृषु; हे पितः, हे पितरौ, हे पितरः।

(४) दूसरे अर्थात् जिनको सर्वनामस्थान परेके दीर्घादेश होता है।

१०३—अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तॄणाम् ॥ अ० ६। ४। ११ ॥

जो संबुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे हो तो अप् शब्द, तृन्, तृच् -प्रत्ययान्त और स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ [और] प्रशास्तृ इन शब्दों को दीर्घादेश हो। जैसे—होतारौ, होतारः, होतारम्, होतारौ। शेष प्रयोग पितृशब्द के समान समझना। इसी प्रकार—'कर्तृ, हर्तृ' आदि तथा 'नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, पोतृ, प्रशास्तृ' शब्दों के प्रयोग भी समझने चाहियें।

ऋकारान्त नपुंसकलिङ्ग कर्तृशब्द।

कर्तृ—सु, यहाँ सु विभक्ति का (१) लुक् होके—कर्तृ। कर्तृ—औ। औकार के स्थान में (२) शी आदेश और पूर्व को नुम् होके—कर्तृणी। कर्तृ—जस्। यहाँ शि (३) आदेश नुम् और दीर्घ होके—कर्तॄणि। द्वितीया विभक्ति में भी—कर्तृ, कर्तृणी, कर्तॄणि। कर्तृ—टा, यहाँ से लेकर अजादि (४) विभक्तियों में नुम् होवेगा। कर्तृणा, कर्तृभ्याम्, कर्तृभिः; कर्तृणे, कर्तृभ्याम्, कर्तृभ्यः; कर्तृणः, कर्तृभ्याम्, कर्तृभ्यः; कर्तृणः, कर्तृणोः, कर्तॄणाम्। कर्तृ—ङि। यहां गुण (५) होके—कर्तरि, कर्तृणोः, कर्तृषु। संबोधन

(१) (सु—लुक्) स्वमोर्नपुंसकात् [६०]।

(२) (औ—शी) नपुंसकाच्च [ना० ७०]। (पूर्व—नुम्) नपुंसकस्य झलचः [ना० ७१]।

(३) (जस्—शि) जश्शसोः शिः [ना० ७३]। (पूर्व—दीर्घ) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ [ना० ७४]।

(४) (अजादि विभक्ति—नुम्) इकोऽचि विभक्तौ [ना० ७१]।

(५) (गुण) ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः [ना० ९८]।

मे—हे (१) कर्तः, हे कर्त्त, हे कर्तृणी, हे कर्तृणि। इसी प्रकार और भी ऋकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्द के प्रयोग समझने चाहियें। परन्तु ऋकारान्तस्त्रीलिङ्ग में केवल 'स्वसृ, दुहितृ, ननान्दृ, यातृ, मातृ, तिसृ, चतसृ' ये सात शब्द हैं इनके रूप कुछ भिन्न होते हैं †। नियत ऋकारान्त स्त्रीलिङ्ग दुहितृ शब्द—दुहितृ—सु—दुहिता, दुहितरौ, दुहितरः; दुहितरम्, दुहितरौ, दुहितॄः। यहाँ पुँलिङ्ग के न होने से शस् के सकार को नकार न हुआ। दुहित्रा, दुहितृभ्याम्, दुहितृभिः। आगे पितृ शब्द के समान समझना चाहिये। तिसृ, चतसृ शब्द में विशेष यह है कि—

१०४—त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ॥ अ० ७।२।९९॥

जो स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान त्रि और चतुर् शब्द हों तो उनको तिसृ और चतसृ आदेश हो।

१०५—अचि र ऋतः ॥ अ० ७।२।१००॥

जो अजादि विभक्ति परे हों तो तिसृ और चतसृ शब्द के ऋकार को रेफ आदेश हो। तिसृ—जस्—तिस्रः, [चतसृ—जस्—चतस्रः]। शस् में भी ऐसा ही होता है।

१०६—न तिसृचतसृ ॥ अ० ६।४।४॥

---

(१) यहाँ 'नलुमताङ्गस्य' [सन्धि ९८] इस परिभाषा के अनित्य पक्ष में 'ह्रस्वस्य गुणः' [ना० ६२] इससे गुण हो जाता है। उक्त परिभाषा का अनित्य पक्ष 'इकोऽचि विभक्तौ' [ना० ७१] इसकी व्याख्या में महाभाष्याकार [अ० ७।१।७२] ने कहा है।

---

† अन्य ऋकारान्त 'कर्तृ' आदि शब्दों में स्त्रीलिङ्ग में 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (स्त्रै० २२) से ङीप् होकर 'कर्त्री', इसप्रकार ईकारान्त बन जाते हैं। 'स्वसृ' आदि में 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' [स्त्रै० ३०] से ङीप् का निषेध हो जाता है।

तिसृ और चतसृ शब्दों को नुट् सहित आम् विभक्ति परे हो तो दीर्घ न हो। तिसृणाम्, चतसृणाम्।

१०७—छन्दस्युभयथा ॥ अ० ६। ४। ५॥

वैदिक प्रयोगों में नुट्सहित आम् विभक्ति के परे तिसृ, चतसृ शब्दों का विकल्प करके दीर्घ होवे। तिसृणाम्, तिसॄणाम्, चतसृणाम्, चतसॄणाम्। इसी प्रकार इन छः शब्दों के अन्य प्रयोग ऋकारान्तवत् समझने चाहियें परन्तु 'स्वसृ' शब्द का सर्वनामस्थान में होतृ शब्द के समान दीर्घ होता है। स्वसा, स्वसारौ, स्वसारः, स्वसारम्, स्वसारौ।

॥ इत्यृकारान्ताः ॥

ऐकारान्त पुंलिङ्ग रैशब्द।

रै—सु—

१०८—रायो हलि ॥ अ० ७। २। ८५॥

हलादि विभक्तियों के परे रै शब्द को आकारादेश हो। जैसे—रा—सु, उकार की इत्संज्ञा और लोप तथा सकार को रुत्व विसर्जनीय होके—राः, रै—औ, अजादि विभक्तियों के परे सर्वत्र और ऐकार के स्थान में (१) आय् आदेश हो जाता है। रायौ, रायः; रायम्, रायौ, रायः, राया। रै—भ्याम्, इत्यादि में भी हलादि विभक्तियों के होने से आकारादेश हो जाता है। राभ्याम्, राभिः, राये, राभ्याम्, राभ्यः; रायः राभ्याम्, राभ्यः, रायः रायोः, रायाम्; रायि, रायोः, रासु। यहाँ रै शब्द धन का वाचक है इसलिए संबोधन नहीं होता, जो अन्य कोई ऐकारान्त शब्द आवे तो उसके भी प्रयोग इसी प्रकार समझने चाहियें।

॥ इत्यैकारान्ताः ॥

(१) एचोऽयवायावः [सन्धि० १८०]। इस सूत्र से।

ओकारान्त पुंलिङ्ग वा स्त्रीलिङ्ग गोशब्द ।

परन्तु इसके दोनों लिङ्गों में एक से ही प्रयोग होते हैं । गो—सु—

१०६—गोतो णित् ॥ अ० ७ । १ । ६० ॥

गो शब्द से परे जो सर्वनामस्थान विभक्ति हो वे णित् के समान हो जावें । सर्वनामस्थान को णिद्वत् होने से वृद्धि हो जाती है ॥ यहाँ भी गो शब्द को वृद्धि (१) होके—गौः, गावौ, गावः ॥ गो—अम्—

११०—औतोऽम्शसोः ॥ अ० ६ । १ । ९३ ॥

जो अम् और शस् विभक्ति परे हों तो ओकारान्त शब्द के ओकार को आकारादेश हो । जैसे,—गा—अम् । पूर्वरूप एकादेश होकर—गाम्, गावौ, गाः । टा विभक्ति के परे अवादेश होके—गवा । गोभ्याम्, गोभिः; गवे, गोभ्याम्, गोभ्यः; गो—ङसि, यहां पूर्वरूप (२) एकादेश होके—गोः । गोभ्याम्, गोभ्यः; गोः, गवोः, गवाम्, गवि, गवोः, गोषु । जो किसी अर्थ में इस शब्द का संबोधन आवे तो कुछ विशेष न होगा * ।

॥ इत्योकारान्ताः ॥

औकारान्त स्त्रीलिङ्ग नौ-शब्द ।

नौ—सु = नौः, नौ—औ = नावौ, नावः; नावम्, नावौ, नावः, नावा, नौभ्याम्, नौभिः; नावे, नौभ्याम्, नौभ्यः; नावः, नौभ्याम्, नौभ्यः; नावः, नावोः, नावाम्; नावि, नावोः, नौषु । इसी प्रकार औकारान्त पुँलिङ्ग ग्लौ शब्द समझना । ग्लौः, ग्लावौ, ग्लावः इत्यादि ।

॥ इत्यौकारान्ता ॥

अब जो जो प्रसिद्ध हलन्त शब्द वेदादि ग्रंथों में आते हैं उनकी प्रयोगव्यवस्था दिखाई जाती है—

---

(१) अचोऽञ्णिति [सा० ९९] ।
(२) (पूर्वरूप) ङसिङसोश्च [सा० ६०] ।

* ओकारान्त द्यो शब्द के रूप भी गो के समान होते हैं ।

चकारान्त स्त्रीलिङ्ग वाच् (१) शब्द ।

वाच्—सु । यहाँ चकार के स्थान में (२) ककार [और (३) गकार] होके—

१११—वावसाने ॥ अ० ८ । ४ । ५५ ॥

जो अवसान में वर्तमान झल् हों तो उनको विकल्प करके चर् हो । जैसे—वाक, वाग, वाचौ, वाचः; वाचम् , वाचौ, वाच ; वाचा, वाच्—भ्याम्—यहाँ भी चकार को ककारादेश होके—'वाक्—भ्याम्' इस अवस्था (३) में; जश् आदेश होकर—वाग्भ्याम् । वाग्भिः; वाचे, वाग्भ्याम्, वाग्भ्यः; वाचः, वाग्भ्याम्, वाग्भ्यः; वाचः, वाचोः, वाचाम्; वाचि, वाचोः । वाक्—सु, यहां ककार से परे सु के सकार को आदेश होके—वाक्—षु । संकेत † में कह चुके हैं कि 'वाच' शब्द वाणी का वाची है इसलिए जड़भाव होने से यह संबोधन में नहीं आता । इसी प्रकार 'शुच्, त्वच्, रुच्' इत्यादि शब्दों के रूप भी समझने चाहियें । जो चकारान्त शब्दों में निम्नलिखित चकारान्त शब्द हैं जैसे—प्राच् ‡, प्रत्यच्, उदच्, अवाच, दध्यच्, मध्वच्, क्रुञ्च् इत्यादि क्विन् प्रत्ययान्त शब्दों को पदान्त में सर्वत्र कुत्व हो जाता है । प्राच्—स, यहाँ—

(१) यह वाणी का नाम है ।

(२) (च—क्) चोः कुः [सन्धि० १८९] ।

(३) यहाँ 'झलां जशोऽन्ते' [सन्धि० १९०] इस सूत्र से जश् आदेश होता है ।

† देखो इसी पृष्ठ पर टि० नं० १ । तथा पृष्ठ १८ टि० ।

‡ जब पूजा अर्थ में 'नाञ्चेः पूजायाम्' [अष्टा० ६ । ४ । ३०] सूत्र से उपधा के नकार का लोप नहीं होता तब 'प्राञ्च्' शब्द के रूप आगे निर्दिश्यमान 'क्रुञ्च्' शब्द के समान समझने चाहिये ।

११२—उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ॥

अ० ७ । १ । ७० ॥

जो सर्वनामस्थान परे हो तो धातुरहित उगित् प्रतिपादिक और अञ्चु को नुम् का आगम हो। प्रान्च्—सु। इस अवस्था में 'हल्ङ्याo' [नाo ४८] इससे लोप होकर—

११३—संयोगान्तस्य लोपः ॥ अ० ८।२।२३॥

संयोगान्त पद के अन्त्य वर्ण का लोप हो। इससे चकार का लोप होके—

११४—क्विन्प्रत्ययस्य कुः ॥ अ० ८।२।६२॥

क्विन् प्रत्यय जिससे कहा हो उसको पदान्त में कवर्गादेश (१) हो। इससे नकार को अनुनासिक 'ङ' आदेश हो जाता है। जैसे—प्राङ्, प्रत्यङ् इत्यादि। प्रान्च्—औ। यहां नकार (२) को अनुस्वार और अनुस्वार को परसवर्ण होके। प्राञ्चौ, प्राञ्च, प्राञ्चम्, प्राञ्चौ। प्र—अच्—शस् इत्यादि सर्वनामस्थान भिन्न विभक्तियों के परे भसंज्ञा होकर—

११५—अचः ॥ अ० ६ । ४ । १३८ ॥

भसंज्ञक अञ्चु धातु के अकार का लोप हो। जैसे—प्र—च—शस्, यहां—

(१) क्विन् कुरिति सिध्यते प्रत्ययग्रहणं कृतम्। क्विन्प्रत्ययस्य सर्वत्र पदान्ते कुत्वमिष्यते। महाभाष्य ८। २। ६२॥ इसी सूत्र पर है। यहां प्रत्यय ग्रहण का यही प्रयोजन है कि जिस जिस धातु से क्विन् प्रत्यय का विधान किया हो उस-उस को पदान्त में कवर्गादेश हो जाय।

(२) (न—अनुस्वार) नश्चापदान्तस्य झलि। सन्धि॰१९२। (अनुस्वार—परसवर्ण) अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः [सन्धि १९७]।

११६—चौ ॥ अ० ६ । ३ । १३८ ॥

चु शब्दमात्र अञ्चु (१) धातु परे हो तो पूर्व को दीर्घ हो। इससे प्र शब्द को दीर्घ हो के—प्राचः । प्राचा, प्राच्—भ्याम्, यहां (२) चकार को क् और ककार को ग् होके—प्राग्भ्याम्, प्राग्भिः; प्राचे, प्राग्भ्याम्, प्राग्भ्यः; प्राचः, प्राग्भ्याम्, प्राग्भ्यः; प्राचः, प्राचोः, प्राचाम्; प्राचि, प्राचोः, प्राक्षु। इसी प्रकार—प्रत्यङ्, प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः; प्रत्यञ्चम्, प्रत्यञ्चौ, प्रतीचः । यहाँ 'चौ' इससे दीर्घादेश होता है। इत्यादि सब चकारान्त शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें। परन्तु उक्त शब्दों में में 'उदच्' और 'क्रुञ्च्' (३) के रूप सर्वनामस्थान भिन्न अजादि विभक्तियों में कुछ विशेष होते हैं—

११७—उद ईत् ॥ अ० ६ । ४ । १३९ ॥

उद् उपसर्ग से परे भसंज्ञक अञ्चु धातु के आकार को ईकार आदेश हो। उदीचः, उदीचा, उदीचे, उदीचः, उदीचः, उदीचोः, उदीचां, उदीचि, उदीचोः, उदक्षु।

"ऋत्विग्दधृक्०" इस सूत्र में निपातन होने से क्रुञ्च् शब्द की उपधा के नकार का लोप नहीं होता। सर्वनामस्थान में क्रुञ्च शब्द प्राच् शब्द के तुल्य है—क्रुङ् क्रुञ्चौ, क्रुञ्चः; क्रुञ्चम्, क्रुञ्चौ। क्रुञ्च्—शस्, यहाँ भी कुछ विशेष नहीं—क्रुञ्चः; क्रुञ्चा।

(१) (चु) इससे उस अञ्चु धातु का ग्रहण है कि जिसके अकार [और] नकार का लोप हो जाता है।

(२) (च—क्) चोः कुः। सन्धि० १८९। (क—ग्) झलां जश् झशि। सन्धि० २३४।

(३) (क्रुञ्च्) यहां धात्ववयव अपदान्त नकार के अनुस्वार को परसवर्ण हो जाता है।

क्रुञ्च्—भ्याम्, यहाँ च् को क् और अनुस्वार को परसवर्ण ङकार होके ककार का लोप (१) हो जाता है। क्रुङ्भ्याम्, क्रुङ्भिः; क्रुञ्चे क्रुङ्भ्याम्, क्रुङ्भ्यः; क्रुञ्च, क्रुङ्भ्याम्, क्रुङ्भ्यः; क्रुञ्चः, क्रुञ्चोः, क्रुञ्चाम्, क्रुञ्चि, क्रुञ्चोः, क्रुङ्क्षु।

॥ इति चकारान्ताः ॥

छकारान्त स्त्रीलिङ्ग वा पुंलिङ्ग प्राछ् (२) शब्द।

प्राछ्—सु, यहाँ—

२१८–व्रश्च-भ्रस्ज-सृज-मृज-यज-राज-भ्राजच्छशां षः ॥ अ० ८।२।३६॥

झल् परे वा पदान्त में व्रश्च, भ्रस्ज, सृज, मृज, यज, राज, भ्राज इन को तथा छकारान्त और शकारान्त शब्दों को षकारादेश हो। जैसे—प्राष्—सु। यहाँ (३) ष् के स्थान में ड् होके प्राड्—सु। सु का लोप और ड् के स्थान में विकल्प से चर् होके 'प्राट्, प्राड्' दो प्रयोग होते हैं। प्राछ्—औ, यहां दीर्घ से परे (४) छकार को तुगागम होकर तकार को चकार हो जाता है—प्राच्छौ, प्राच्छः; प्राच्छम्, प्राच्छौ, प्राच्छः; प्राच्छा। प्राछ्—भ्याम्, यहाँ पूर्ववत् छकार को 'ष्' और 'ष्' के स्थान में 'ड्' होके—प्राड्भ्याम्, प्राड्भिः, प्राच्छे, प्राड्भ्याम्, प्राड्भ्यः; प्राच्छः, प्राड्भ्याम्, प्राड्भ्यः,

(१) (क्—लोप) संयोगान्तस्य लोपः [ना० ११३]।
(२) यह पूछने वाली वा वाले का नाम है।
(३) (ष्—ड्) झलां जशोऽन्ते [सन्धि० १९०] (ड् को विकल्प चर्) वावसाने [ना० १११]।
(४) (तुक्) दीर्घात्। सन्धि० २१०। (त्—च्) स्तोः श्चुना श्चुः। सन्धि० २१२॥

प्राच्छः, प्राच्छोः, प्राच्छाम्; प्राच्छ, प्राच्छो। प्राड्—सु। डकार से परे सकार को धुट् (१) का विकल्प करके आगम और डकार को (२) टकार भी होता है। जैसे—प्राट्त्सु, प्राट्सु। सबोधन में कुछ विशेष नहीं है।

॥ इति छकारान्तः ॥

जकारान्त पुंलिङ्ग ऋत्विज् (३) शब्द।

ऋत्विज्—सु। यह शब्द क्विन् प्रत्ययान्त है। इस कारण इसको पदान्त में (४) कवर्गादेश हो जाता है। इस कवर्ग को विकल्प करके चर् और दूसरे पक्ष में जश् होके—ऋत्विक्, ऋत्विग्, ऋत्विजौ, ऋत्विजः, ऋत्विजम्, ऋत्विजौ, ऋत्विजः, ऋत्विजा, ऋत्विग्भ्याम्, ऋत्विग्भिः, ऋत्विजे, ऋत्विग्भ्याम्, ऋत्विग्भ्यः; ऋत्विजः, ऋत्विग्भ्याम, ऋत्विग्भ्यः, ऋत्विजः, ऋत्विजोः, ऋत्विजाम्; ऋत्विजि, ऋत्विजोः, ऋत्विज्—सु, यहां कुत्व होने से जकार को 'ग्' आदेश होकर 'ग्' (५) को 'क्' और सु के 'स्' को 'ष्' आदेश हो जाता है। जैसे—ऋत्विक्षु। संबोधन में यहाँ कुछ विशेष नहीं है। इसी प्रकार—वणिज्, भुरिज्, (६) उशिज्,

(१) (धुट्) ड: सि धुट्। सन्धि० २०१।

(२) (ड—ट्) खरि च। सन्धि० २३५।

(३) (ऋत्विज्) उसको कहते हैं जो ऋतु ऋतु में यज्ञ करे वा करावे।

(४) (पदान्त—कुत्व) क्विन्प्रत्ययस्य कुः [ना० ११४]।

(५) (ग्—क्) खरि च। सन्धि० २३५। (स्—ष्) आदेश-प्रत्यययोः [ना० ६७]।

(६) भुरिज् इत्यादि शब्दों को 'चोः कुः' (सन्धि० १८९) [से कुत्व]।

वणिज् इत्यादि शब्दों के प्रयोग भी समझने चाहियें। परन्तु किन्हीं किन्हीं जकारान्त शब्दों के प्रयोगों में कुछ विशेष कार्य भी होता है। जैसे—परिव्राज्। इस शब्द के पदान्त में सर्वत्र जकार को † षकारादेश होता है। षकार के स्थान में 'ट्, ड्, पूर्ववत् हो के—परिव्राट्, परिव्राड्। परिव्राड्भ्याम्, परिव्राड्भिः; परिव्राजे, परिव्राड्भ्याम्, परिव्राड्भ्यः इत्यादि पूर्ववत् जानो। परिव्राट्सु, परिव्राट्त्सु। यहां भी सम्बोधन में कुछ विशेष नहीं। इसी प्रकार—विश्वभ्राज्, सम्राज्, विश्वराज, विराज्, यवभ्रज् इत्यादि शब्दों के प्रयोग भी जानने चाहियें, परन्तु युज् (१) और अवयाज् इन दो शब्दों में कुछ विशेष है। युज्—सु—

११६–युजेरसमासे ॥ अ० ७ । १ । ७१ ॥

सर्वनामस्थान विभक्तियों से परे युज् शब्द को नुम् का आगम हो। जैसे—युन्—ज्—सु। यहां अन्य कार्य प्राच् शब्द के तुल्य समझने चाहियें। युङ्, युञ्जौ, युञ्जः; युञ्जम्, युञ्जौ, युजः; युजा, युग्भ्याम्, युग्भिः; युजे, युग्भ्याम्, युग्भ्यः, युजः, युग्भ्याम्, युग्भ्यः; युजः, युजोः, युजाम्, युजि, युजोः, युक्षु। इन उक्त शब्दों में जहाँ कहीं सम्बोधन की योग्यता हो वहाँ प्रथमा विभक्ति के तुल्य ही सम्बोधन में भी प्रयोग समझने चाहियें। अवयाज्—सु (२)। इसकी जहाँ पदसंज्ञा होती है वहाँ—

(१) (युज्) यह युक्त होनेवाले का नाम है।

(२) यहां अवपूर्वक यज धातु से 'अवे यजः' [अ० ११०८] इस सूत्र से क्विन् प्रत्यय होता है।

† यहां जकार को षकार 'परौ व्रजे षश्च पदान्ते' इस उणादि (२ । ५९) सूत्र से होता है।

१२०—वा०—श्वेतवाहादीनाम् डस् पदस्य ॥
अ० ३। २। ७१ ॥

श्वेतवाहादि प्रातिपदिकों को पदान्त में डस् आदेश हो †।
श्वेतवाहादिकों में अवयाज् शब्द भी है। प्रथमा विभक्ति के एक-
वचन में इस के 'आज्' मात्र को 'डस्' होकर—अवयस्, यहाँ—

१२१—अत्वसन्तस्य चाधातो ॥ अ०६।४।१४॥

जो सम्बुद्धिभिन्न सु विभक्ति परे हो तो धातुरहित अत्वन्त और
असन्त शब्द की उपधा को दीर्घादेश हो। अवयाः, अवयाजौ,
अवयाजः; अवयाजम्, अवयाजौ, अवयाजः; अवयाजा। अवयाज्
आदि शब्दों को हलादि विभक्तियों में डस् हो के—अवयस्—भ्याम्
यहाँ "ससजुषोरुः ‡" इस सूत्र से पदान्त सकार को रु हो के—
अवय—रु—भ्याम्। यहाँ रुकार के उकार की इत्संज्ञा, लोप, रेफ
को (१) उकार और पूर्व पर को गुण एकादेश ओकार होके—
अवयोभ्याम्, अवयोभिः; अवयाजे, अवयोभ्याम्, अवयोभ्यः;
अवयाजः, अवयोभ्याम्, अवयोभ्यः, अवयाजः, अवयाजोः, अव-
याजाम्, अवयाजि, अवयाजोः, अवयस्सु अवयःसु। सबोधन में—

१२२—अवयाः (२) श्वेतवाः पुरोडाश्च ॥
अ० ८। २। ६७ ॥

(१) (रु—उ) हशि च। सन्धि २५४।
(२) हे (अवयस्) यहां उक्त सूत्र से दीर्घ नहीं पाता है। इस
कारण दीर्घ सिद्ध करने के लिए यह सूत्र है।

† अन्य व्याख्याकार इस वार्तिक की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—
श्वेतवहादिकों की जहां भावी पदसंज्ञा हो वहां ण्विन् के स्थान में डस्
प्रत्यय होता है। परन्तु उपर्युक्त व्याख्या अधिक युक्त है।

‡ ना० १४।

अवयाः, श्वेतवाः, पुरोडाः ये निपातन हैं। हे अवयाः, हे अवयाजौ, हे अवयाजः।

॥ इति जकारान्ताः ॥

अथ टकारान्त स्त्रीलिङ्ग वा पुंलिङ्ग सरट् शब्द ।

सरट्—सु, यहाँ "हल्ङ्याः० ‡" इस सूत्र से लोप और विकल्प से चर् होके—सरट, सरड्, सरटौ, सरटः; सरटम्, सरटौ, सरटः, सरटा, सरट्—भ्याम्। यहाँ जश् (१) होके—सरड्भ्याम्, सरड्भिः; सरटे, सरड्भ्याम्, सरड्भ्यः, सरटः, सरड्भ्याम्, सरड्भ्यः; सरटः, सरटोः, सरटाम्, सरटि, सरटोः, सरट्सु सरट्सु। सम्बोधन में कुछ विशेष नहीं। इसी प्रकार अन्य भी लघट् आदि टकारान्त शब्दों के रूप समझने चाहियें।

॥ इति टकारान्ताः ॥

तकारान्त नियतपुँल्लिङ्ग मरुत् शब्द ।

मरुत्—सु। पूर्ववत्। मरुत्, मरुद्, मरुतौ, मरुतः, मरुतम्, मरुतौ, मरुतः, मरुता, मरुद्भ्याम्, मरुद्भिः, मरुते, मरुद्भ्याम्, मरुद्भ्यः; मरुतः, मरुद्भ्याम्, मरुद्भ्यः, मरुतः, मरुतोः, मरुताम्, मरुति, मरुतोः, मरुत्सु। सम्बोधन में कुछ विशेष नहीं। इसी प्रकार–हरित्, रोहित्, संभृत, तृपत्, वेहत् इत्यादि तकारान्त स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग शब्दों के प्रयोग के समान ही जानने चाहिये।

अब उन तकारान्तों को दिखलाते हैं कि जिनमें कुछ विशेष कार्य होते हैं—

(१) (जश्) झलां जशोऽन्ते। सन्धि० १९०।

‡ ना० ४८।

तकारान्त पठत् शब्द पुंलिङ्ग ।

(१) पठत्—सु । यहाँ सर्वनामस्थान में (२) नुम् और संयोगान्तलोप हो के—पठन्, पठन्तौ, पठन्त , पठन्तम, पठन्तौ, पठत । आगे मरुत् शब्द के समान प्रयोग जानने चाहियें । इसी प्रकार—पचत्, कुर्वत्, गच्छत्, पृषत्, बृहत् इत्यादि शब्दों के प्रयोग भी समझने चाहिये । महत् शब्द में कुछ विशेष है। जैसे—महत्—सु । यहाँ पूर्ववत् नुम् का आगम होके—महन्त्—सु, इस अवस्था में—

१२३—सान्तमहतः संयोगस्य ॥ अ० ६।४।१०॥

जो सबुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे हो तो सकारान्तसंयोगी और महत् शब्द के नकार की उपधा को दीर्घ हो। यहाँ दीर्घ और पूर्ववत् तकार का लोप होके—महान्, महान्तौ, महान्त , महान्तम्, महान्तौ । आगे के प्रयोग मरुत् शब्द के समान समझने चाहियें । [गोमत्, यवमत् धनवत्, अश्ववत्, विद्यावत् इत्यादि] मतुप् प्रत्ययान्त तकारान्त शब्दों को असन्त शब्दों के समान सबुद्धिभिन्न सु विभक्ति परे (३) दीर्घ होता है । गोमान्, यवमान्, धनवान्, अश्ववान्, विद्यावान् इत्यादि । आगे सब विभक्तियों में रूप पठत् शब्द के समान समझना चाहिये । गोमता, गोमद्भ्याम् इत्यादि । संबोधन में—हे गोमन्, हे यवमन्, हे धनवन् इत्यादि ।

॥ इति तकारान्ताः ॥

---

(१) (पठत्) पढ़ने वाले को कहते हैं । पठत् आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग में ङीबन्त [पठन्ती] होकर प्रयोगविषय में कुमारी शब्द के समान हो जाते हैं ।

(२) (नुम्) उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः [ना० ११६] ।

(३) (दीर्घ) अत्वसन्तस्य चाधातोः [ना० १२१] ।

दकारान्त स्त्रीलिङ्ग सम्पद् (१) शब्द ।

सम्पद्—सु । यहाँ भी "हल्ङ्याब्भ्यो†" इस सूत्र से लोप और विकल्प से चर् होकर दो प्रयोग होते हैं—सम्पद्, सम्पत्, सम्पदौ, सम्पदः इत्यादि । इसी प्रकार—शरद्, ससद्, दृषद्, विपद्, आपद्, प्रतिपद्—स्त्रीलिङ्ग और विद्विद्, काष्ठभिद्, नगच्छिद् इत्यादि दकारान्त शब्दों के रूप तीनों लिङ्गों में समान समझने चाहियें । जैसे - शरत्, शरद्, शरदौ, शरदः इत्यादि । और वेदवित्, वेदविद्, वेदविदौ, वेदविदः इत्यादिवत् । *॥ इति दकारान्ताः ॥*

नकारान्त पुंल्लिङ्ग राजन् शब्द ।

राजन्—सु । यहाँ (२) दीर्घ और (३) न लोप होकर—राजा, राजानौ, राजानः; राजानम्, राजानौ, राजन्—शस्, यहाँ (४) अल्लोप होकर—राजन्—अस् । नकार को (५) ञकारादेश होकर—राज्ञः । राज्ञा, राजन्—भ्याम् । यहाँ भी नकार का लोप होकर—राज—भ्याम् । अब यहाँ नलोप के पश्चात् "सुपि च‡" इस सूत्र से दीर्घादेश प्राप्त है सो यह नलोप के असिद्ध (६) होने से नहीं होता । राजभिः, राज्ञे, राजभ्याम्, राजभ्यः; राज्ञः, राजभ्याम्, राजभ्यः; राज्ञः, राज्ञोः, राज्ञाम् । राजन्—ङि, यहाँ "विभाषा ङिश्योः*" इससे आकार का लोप विकल्प से होकर

---

(१) (सम्पद्) यह धनादि ऐश्वर्य का द्योतक है ।

(२) (दीर्घ) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ [ना० ४४] ।

(३) (न—लोप) नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य [ना० ६७] ।

(४) (अल्लोप) अल्लोपोऽनः [ना० ७२] ।

(५) (न—ञ) स्तोः श्चुना श्चुः । सन्धि० २१३ ।

(६) (नलोप असिद्ध) नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति । सन्धि० ११९ । [† ना० ४८ । ‡ ना० २६ । * ना० ७४ ।]

दो प्रयोग बन जाते हैं—राज्ञि, राजनि। संबोधन में—हे राजन्, हे राजानौ, हे राजानः। इसी प्रकार—वृषन्, तक्षन्, प्लीहन्, क्लेदन्, स्नेहन्, मूर्धन्, मज्जन्, विश्वप्सन्, स्थामन्, सुत्रामन्, धरिमन्, शरिमन्, जनिमन्, प्रथिमन्, म्रदिमन्, महिमन्, सुदामन्, सुधीवन्, घृतपावन्, भूरिदावन् इत्यादि शब्दों के रूप भी समझने चाहियें। और जिन नकारान्त शब्दों में कुछ विशेष कार्य होता है, उनको यहाँ लिखते हैं—

पुंलिङ्ग नकारान्त आत्मन् शब्द।

आत्मा, आत्मानौ, आत्मानः; आत्मानम्, आत्मानौ। इस शब्द में इतना विशेष है कि 'शस्, टा, ङे, ङसि, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस्' इन विभक्तियों में भसंज्ञा के होने से [अकार लोप की प्राप्ति होती है, उसका]।

१२४—न संयोगाद्वमन्तात् ॥ अ० ६।४।१३७॥

जो वकारान्त और मकारान्त संयोग से परे अन् हो तो तदन्त भसंज्ञक आकर का लोप न हो। जैसे—आत्मनः, आत्मना, आत्मने, आत्मनः, आत्मनः, आत्मनोः आत्मनाम्, आत्मनि, आत्मनोः। इसी प्रकार—सुशर्मन्, सुधर्मन्, अश्मन्, शक्मन्, परिज्मन्, यज्वन्, नुपर्वन्, अथर्वन्, मातरिश्वन् इत्यादि शब्दों के रूप भी जानने चाहियें। परन्तु नकारान्त पुँल्लिङ्ग अर्यमन् और पूषन् शब्दों के रूप में इतना विशेष है कि जहाँ कहीं समास होकर ये दोनों नपुंसकलिङ्ग हो जावें, [जैसे—बहुपूषन्, बह्वर्यमन् ब्राह्मणकुलम्] यहाँ प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में—

१२५—इन्हन्पूषार्यम्णां शौ॥ अ० ६।४।१२॥

इन्, हन्, पूषन्, और अर्यमन् ये जिनके अन्त में हों उन अङ्गों की उपधा को 'शि' विभक्ति के परे दीर्घ हो जावे। यह सूत्र

नियमार्थ है। अर्थात् जो सर्वत्र सर्वनामस्थान में नकारान्त की उपधा को दीर्घादेश प्राप्त था सो न हो, किन्तु 'शि' के परे ही हो। जैसे—बहुपूषाणि, बह्वर्यमाणि।

१२६—सौ च ॥ अ० ६। ४। १३ ॥

और पुँल्लिङ्ग में भी सु विभक्ति के परे इन्, हन्, पूषन् और अर्यमन् इनकी उपधा को दीर्घ हो। जैसे—धनी, शत्रुहा, पूषा, अर्यमा। इनको अन्य विभक्तियों में नियम के होने से दीर्घ नहीं होता। जैसे—पूषणौ, अर्यमणौ, पूषणः, अर्यमणः, पूषणम्, अर्यमणम्, पूषणौ, अर्यमणौ। आगे इनके रूप राजन् शब्द के समान समझने चाहियें। वेद में [तक्षन्, ऋभुक्षन् इत्यादि] वपूर्व नान्त की उपधा में कुछ विशेष है। जैसे—

१२७—वा षपूर्वस्य निगमे ॥ अ० ६। ४। ९ ॥

जो वेद में सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे हो तो षकार पूर्व वाले नान्त की उपधा के अच् को विकल्प करके दीर्घ हो। स तक्षाणं तिष्ठन्तमब्रवीत्, स तक्षणं तिष्ठन्तमब्रवीत्, ऋभुक्षाणमिन्द्रम्, ऋभुक्षणमिन्द्रम् इत्यादि। श्वन्, युवन् और मघवन् शब्दों के प्रयोग सर्वनामस्थान में राजन् शब्द के समान होते हैं, परन्तु सर्वनामस्थान भिन्न अजादि विभक्तियों में कुछ विशेष है। जैसे—श्वा, श्वानौ, श्वान ; श्वानम्, [श्वानौ,] श्वन—शस्—

१२८—श्वयुवमघोनामतद्धिते ॥ अ० ६।४।१३३॥

जो भसञ्ज्ञक श्वन्, युवन् और मघवन् अङ्ग हैं उनको सम्प्रसारण हो। इससे वकार को उकार हुआ। जैसे—शु अन्—शस्।

१२९—सम्प्रसारणाच्च ॥ अ० ६। १। १०७ ॥

जो सम्प्रसारण सञ्ज्ञक वर्ण से परे अच् हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो। इससे उकार अकार को मिल के उकार

हुआ। जैसे—शुनः, शुना, श्वभ्याम्, श्वभि ; शुने, श्वभ्याम्, श्वभ्यः; शुनः, श्वभ्याम, श्वभ्यः; शुनः, शुनो, शुनाम्; शुनि, शुनोः, श्वसु। युवा, युवानौ, युवानः; युवानम्, युवानौ, यूनः (१); यूना, युवभ्याम्, युवभिः; यूने, युवभ्याम्, युवभ्यः; यूनः, युवभ्याम्, युवभ्यः; यूनः, यूनो, यूनाम्; यूनि, यूनोः, युवसु। मघवा, मघवानौ, मघवान; मघवानम्, मघवानौ, मघोनः, मघोना, मघवभ्याम्, मघवभिः; मघोने, मघवभ्याम्, मघवभ्यः, मघोनः, मघवभ्याम्, मघवभ्यः; मघोनः, मघोनोः, मघोनाम्; मघोनि, मघोनोः, मघवसु। सम्बोधन में—हे मघवन्, हे मघवानौ, मघवानः।

१३०—मघवा बहुलम्॥ अ० ६। ४। १२८॥

मघवन् इस अङ्ग को तृ आदेश बहुल करके हो। जैसे—मघवतृ—स् यहाँ ऋकार की इत्सञ्ज्ञा, लोप, नुम् (२) और उपधादीर्घ कार्य होकर—मघवान्, मघवन्तौ, मघवन्तः, मघवन्तम्, मघवन्तौ, मघवतः; (३) मघवता। मघवत्—भ्याम्, यहाँ जश् होके—मघवद्भ्याम, मघवद्भिः इत्यादि।

---

(१) (यून) यहाँ संप्रसारण होकर 'यु—उ—न्' इस अवस्था में सवर्णदीर्घ एकादेश हो जाता है।

(२) (नुम्) उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः [ना० ११२]। (दीर्घ) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ [ना० ४४]।

(३) 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इस सूत्र से मघवन् शब्द के नकारान्त निर्देश से इसके तृभाव अर्थात् मघवत् शब्द को सम्प्रसारण नहीं होता। अथवा 'श्वयुव०' इस सूत्र में 'अल्लोपोऽनः' इस उत्तरसूत्र से 'अनः' इस पद का आकर्षण करके, श्व, युव, मघव इत्यादि [अन्नन्त अर्थात्] नकारान्त शब्दों को ही सम्प्रसारण होता है।

नकारान्त नपुंसकलिङ्ग सामन् शब्द ।

सामन्—सु । यहाँ सुलोप (१) और नलोप होकर—साम । सामन्—औ । औकार के स्थान में शी (२) आदेश [और] विकल्प करके आकार का लोप होकर—साम्नी, सामनी । सामन्—जस् । (३) शि आदेश और नान्त की उपधा को दीर्घ होके—सामानि । फिर भी—साम, साम्नी, सामनी, सामानि । आगे राजन् शब्द के समान इसके प्रयोग जानने चाहियें । संबोधन में इतना विशेष है कि—

१३१—वा०—वा नपुंसकानाम् ॥ अ० ८ । २ । ८ ॥

संबुद्धि में नपुंसकलिङ्ग शब्दों के नकार का लोप विकल्प करके होवे । हे साम, हे सामन् । इसी प्रकार—सीमन्, नामन्, व्योमन् रोमन्, लोमन्, पामन् इत्यादि शब्दों के रूप भी जानने चाहियें । और जो—कर्मन्, चर्मन्, भस्मन्, जन्मन्, शर्मन् इत्यादि मकारान्त संयोग वाले नकारान्त नपुंसक शब्द हैं उनके प्रयोग सर्वनामस्थान में सामन् शब्द के समान और अन्य विभक्तियों में आत्मन् शब्द के समान समझने चाहिये । जैसे—कर्मणा इत्यादि ।

नकारान्त पुंल्लिङ्ग वृत्रहन् शब्द ।

वृत्रहन्—सु । यहाँ "सौ च" [ना० १७५] इस सूत्र से दीर्घ होके—वृत्रहा । वृत्रहन्—औ ।

---

(१) (सु—लोप) स्वमोर्नपुंसकात् [ना० ७०] । (न—लोप) न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य [ना० ६७] ।

(२) (शी—आदेश) नपुंसकाच्च [ना० ४०] (अ—लोप विकल्प) विभाषा ङिश्योः [ना० ७४] ।

(३) (शि—आदेश) जश्शसोः शिः [ना० ४१] (नान्तोपधा दीर्घ) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ [ना० ४४] ।

१३२—एकाजुत्तरपदे णः ॥ अ० ८ । ४ । १२ ॥

जिस समास में एकाच् शब्द उत्तर पद हो, उसमें पूर्वपदस्थ रेफ षकार से परे प्रातिपदिकान्त, और विभक्तिस्थ नकार को णकारादेश हो। जैसे—वृत्रहणौ, वृत्रहणः; वृत्रहणम्, वृत्रहणौ। वृत्रहन्—शस्, यहाँ हन् के (१) अकार का लोप होकर—

१३३—हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ॥ अ० ७ । ३ । ५४ ॥

ञित् णित् प्रत्यय वा नकार परे हो तो हन् धातु के हकार को घकारादेश हो। वृत्रघ्नः (२)। वृत्रघ्ना, वृत्रहभ्याम्, वृत्रहभिः; वृत्रघ्ने, वृत्रहभ्याम्, वृत्रहभ्यः; वृत्रघ्नः, वृत्रहभ्याम्, वृत्रहभ्यः; वृत्रघ्नः, वृत्रघ्नोः, वृत्रघ्नाम्; वृत्रघ्नि, वृत्रहणि, वृत्रघ्नोः, वृत्रहसु। हे वृत्रहन्, हे वृत्रहणौ, हे वृत्रहणः। इसी प्रकार—ब्रह्महन्, भ्रूणहन् इत्यादि शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें।

नकारान्त नपुंसकलिङ्ग अहन् शब्द।

अहन्—सु।

१३४—अहन् ॥ अ० ८ । २ । ६८ ॥

पदान्त में अहन् शब्द को रु आदेश हो। विसर्जनीय होके—अहः। अहन्—औ, सामन् शब्द के समान—अह्नी अहनी, अहानि फिर भी—अहः, अह्नी अहनी, अहानि; अह्ना। अहन्—भ्याम्,

(१) (अ—लोप) अल्लोपोऽनः [ना० ७३]।

(२) (वृत्रहन्) इस अवस्था में 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (सन्धि० ९१) इस परिभाषा से अलोप स्थानिवत् हो तो नकार के परे 'ह' न मिले। [अतः] हकार के कुत्वविधानसामर्थ्य से यहाँ अलोप स्थानिवत् नहीं होता।

यहाँ भी नकार को रु, उसके रेफ को उकार और अकार उकार को गुण एकादेश हो के—अहोभ्याम्, अहोभिः; अह्ने, अहोभ्याम्, अहोभ्यः; अह्नः, अहोभ्याम्, अहोभ्यः; अह्नः, अह्नोः, अह्नाम्; अह्नि अहनि, अह्नोः, अहस्सु अहःसु। यद्यपि णिनि तथा इनि प्रत्ययान्त अनेक नकारान्त शब्दों में कुछ विशेष नहीं, तथापि उनमें से एक के प्रयोग लिखते हैं।

इन्नन्त पुंल्लिङ्ग दण्डिन् शब्द।

दण्डिन्—यहाँ "सौ च" [ना० १२५] इस सूत्र से दीर्घ होके—दण्डी, दण्डिनौ, दण्डिनः; दण्डिनम्, दण्डिनौ, दण्डिनः; दण्डिना, दण्डिभ्याम्, दण्डिभिः, दण्डिने, दण्डिभ्याम्, दण्डिभ्यः; दण्डिनः, दण्डिभ्याम्, दण्डिभ्यः; दण्डिनः, दण्डिनोः, दण्डिनाम्; दण्डिनि, दण्डिनोः, दण्डिषु। सम्बोधन में—हे दण्डिन्, हे दण्डिनौ, हे दण्डिनः। इसी प्रकार—घनिन्, कुमारघातिन्, शीर्षघातिन्, उष्णभोजिन्, साधुकारिन्, ब्रह्मवादिन्, श्राद्धकारिन्, स्थण्डिलशायिन्, पण्डितमानिन्, सोमयाजिन् इत्यादि शब्दों के प्रयोग जानने चाहियें। दण्डिन् आदि शब्द यदि किसी प्रकार नपुंसकलिङ्ग में भी आवें तो उनके प्रयोग प्रायः वारि शब्द के समान समझने चाहियें। परन्तु षष्ठीविभक्ति के बहुवचन में दण्डिन् आदि नकारान्त शब्दों को दीर्घ नहीं होगा।

नकारान्त पञ्चन्, सप्तन् और अष्टन् इत्यादि बहुवचनान्त संख्यावाची शब्द तीनों लिङ्गों में समान ही होते हैं। अष्टन्—जस्—

१३५—अष्टन आ विभक्तौ॥ अ० ७।२।८४॥

विभक्तिमात्र के परे अष्टन् शब्द को आकारादेश हो। यद्यपि सूत्र में विकल्प ग्रहण नहीं है, तथापि "अष्टाभ्य औश्" इस [वक्ष्यमाण] सूत्र में आकारान्त अष्टन् शब्द के ग्रहण से सूचित

होता है कि अष्टन् शब्द को आकारादेश विकल्प करके होता है [अन्यथा लाघव के लिए 'अष्टन औश्' सूत्र बनाना युक्त था] जैसे—'अष्टा—जस्, अष्टन्—जस् इस अवस्था में—

१३६—अष्टाभ्य औश् ॥ अ० ७ । १ । २१ ॥

जिसको आकारादेश किया हो ऐसे अष्टन् शब्द से परे जस् और शस् विभक्ति को औकारादेश हो। वृद्धि एकादेश होकर—अष्टौ, अष्टौ। द्वितीय पक्ष में—

१३७—ष्णान्ता षट् ॥ अ० १ । १ । २४ ॥

षकारान्त और नकारान्त संख्यावाची शब्द षट्संज्ञक हों। षट्संज्ञा होकर—

१३८—षड्भ्यो लुक् ॥ अ० ७ । १ । २२ ॥

षट्संज्ञक अर्थात् षकारान्त और नकारान्त संख्यावाची शब्दों से परे जस् और शस् विभक्ति का लुक् हो। अष्ट तिष्ठन्ति, अष्ट पश्य, अष्टभि अष्टाभिः, अष्टभ्य अष्टाभ्य, अष्टभ्यः अष्टाभ्यः। अष्टन्—आम्, इस अवस्था में—

१३९—षट्चतुर्भ्यश्च ॥ अ० ७ । १ । ५५ ॥

षट्संज्ञक और चतुर् शब्द से परे आम् विभक्ति को नुट् का आगम हो। नुट् होकर—'अष्टन्—न्—आम्' इस अवस्था में—

१४०—नोपधायाः ॥ अ० ६ । ४ । ७ ॥

नुट्सहित आम् विभक्ति परे हो तो नान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो। जैसे—अष्टन्—न्—आम्। नलोप होकर—अष्टानाम्। अष्टसु, अष्टासु। पञ्च, पञ्च, पञ्चभिः, पञ्चभ्यः, पञ्चभ्य, पञ्चनाम्, पञ्चसु। इसी प्रकार—सप्तन्, नवन्, दशन् इत्यादि षट्संज्ञक शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें। तथा नकारान्तों में प्रतिदिवन्

शब्द में कुछ विशेष है। प्रतिदिवा, प्रतिदिवानौ, प्रतिदिवानः; प्रतिदिवानम्; प्रतिदिवानौ। प्रतिदिवन्—शस्। यहाँ "अल्लोपोऽनः" [ना० ७३] इससे भसंज्ञा में आकार का लोप होके—

१४१—हलि च ॥ अ० ८ । २ । ७७ ॥

हल् परे हो तो रेफान्त वकारान्त धातु की उपधा के इक् को दीर्घ हो। इस भसंज्ञा में सर्वत्र ही दीर्घ होके—प्रतिदीव्नः, प्रतिदीव्ना; प्रतिदीव्ने, प्रतिदीव्नः, प्रतिदीव्नः, प्रतिदीव्नोः; प्रतिदीव्नाम्, प्रतिदीव्नि (१) प्रतिदीवनि, प्रतिदीव्नः। इन्नन्त शब्दों के प्रयोगों में—पथिन्, मथिन् और ऋभुक्षिन्। इन तीन शब्दों के प्रयोग कुछ विशेष होते हैं। पथिन्—सु—

१४२—पथिमथ्यृभुक्षामात् ॥ अ० ७ । १ । ८५ ॥

सु विभक्ति के परे—पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन् इन शब्दों को आकारादेश हो। यहां नकार के स्थान में आकारादेश होवे—'पथि—आ—सु' इस अवस्था में—

१४३—इतोऽत्सर्वनामस्थाने ॥ अ० ७।१।८६॥

सर्वनामस्थान विभक्तियों के परे पथिन् आदि शब्दों के इकार को आकारादेश हो। पथ्—अ—आ—सु, इस अवस्था में—

१४४—थो न्थः ॥ अ० ७ । १ । ८७ ॥

पथिन् और मथिन् शब्द के थकार को सर्वनामस्थान विभक्तियों के परे न्थ आदेश हो इससे न्थ आदेश होकर—पन्थ्—अ—आ—सु। यहां अकार और आकार को दीर्घ एकादेश होके—पन्थाः।

(१) यहां 'विभाषा ङिश्योः' [ना० ७४] इस सूत्र से विकल्प करके अलोप होकर दो प्रयोग हो जाते हैं।

पथिन्—औ, यहाँ इकार को आकार होकर—पन्थानौ, पन्थान:, पन्थानम्। पथिन्—शस्—

१४५—भस्य टेर्लोपः ॥ अ० ७ । १ । ८८ ॥

भसञ्ज्ञक पथिन् आदि शब्द की टि अर्थात् इन्मात्र का लोप हो। जैसे—पथ्—शस्। पथः, पथा, पथिभ्याम्, पथिभिः, पथे, पथिभ्याम्, पथिभ्यः, पथः, पथिभ्याम्, पथिभ्यः, पथः, पथोः, पथाम्, पथि, पथोः, पथिषु। इसी प्रकार मथिन् और ऋभुक्षिन् शब्द के रूप भी समझने चाहिये।

॥ इति नकारान्ताः ॥

अथ पकारान्त अनियतलिङ्ग सुप् शब्द ।

सुप्—सु। यहाँ "हल्ङ्याप्०" [ना० ४८] इस सूत्र से सकार का लोप होके—सुप्, सुब्। सुप्—औ = सुपौ, सुपः, सुपम्, सुपौ, सुपः, सुपा। भ्याम् आदि झलादि विभक्तियों में पकार को (१) बकार हो जाता है—सुब्भ्याम्, सुब्भिः, सुपे, सुब्भ्याम्, सुब्भ्यः; सुपः, सुपोः, सुपाम्, सुपि, सुपोः, सुप्सु। इसी प्रकार—तिप्, मिप्, कप्, दाप् आदि शब्दों के प्रयोग भी समझने चाहियें। परन्तु अप् शब्द में कुछ विशेष है—

पकारान्त नियतस्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त अप् शब्द ।

अप् शब्द से सातों विभक्तियों के बहुवचन ही आते हैं। अप्—जस्। यहाँ (२) दीर्घ होके—आपः। अप्—शस्। यहाँ कुछ विशेष नहीं—अपः। अप्—भिस्, यहाँ—

(१) (प्—ब्) झलां जशोऽन्ते। सन्धि० १८९ ॥
(२) (दीर्घ) अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृ० [ना० १०१]।

१४६—अपो भि ॥ अ० ७ । ४ । ४८ ॥

भकारादि प्रत्यय के परे अप् शब्द के अन्त को तकारादेश हो। तकार के स्थान में दकार होकर—अद्भिः, अद्भ्यः, अद्भ्यः, अपाम्, अप्सु।

॥ इति पकारान्ताः ॥

भकारान्त नियतस्त्रीलिङ्ग ककुभ् (१) शब्द।

ककुभ्—सु। यहाँ सु के सकार का लोप होके भकार [को बकार और पस] के स्थान मे विकल्प करके भलों को चर् होते हैं। जैसे—ककुब् ककुप्, ककुभौ, ककुभः; ककुभम्, ककुभौ, ककुभः; ककुभा, ककुब्भ्याम्, ककुब्भिः; ककुभे, ककुब्भ्याम्, ककुब्भ्यः; ककुभः, ककुब्भ्याम्, ककुब्भ्यः; ककुभः, ककुभोः, ककुभाम्; ककुभि, ककुभोः, ककुप्सु। इसी प्रकार—त्रिष्टुभ्, अनुष्टुभ् आदि शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें—

॥ इति भकारान्ताः ॥

रेफान्त नियतस्त्रीलिङ्ग गिर् शब्द।

गिर्—सु। यहाँ सकार का लोप होकर।

१४७—र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ॥ अ० ८।२।७६॥

जो पदान्त में रेफवकारान्त धातु की उपधा इक् उसको दीर्घ हो। गीः, गिरौ, गिरः; गिरम्, गिरौ, गिरः; गिरा, गीर्भ्याम्, गीर्भिः; गिरे, गीर्भ्याम्, गीर्भ्यः; गिरः, गीर्भ्याम्, गीर्भ्यः; गिरः, गिरो,

(१) (ककुभ्) यह दिशा का नाम है। (सु—लोप) हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् [ना० ४८]। [भ—ब्, झलां जशोऽन्ते सन्धि० १९०] (चर्-विकल्प) वावसाने [ना० १११]।

गिराम्; गिरि, गिरोः। गिर्—सु। यहाँ खर् प्रत्याहार के परे र् के स्थान में (१) विसर्जनीय पाते हैं इस लिए उत्तर सूत्र नियमार्थ है—

१४८—रोः सुपि ॥ अ० ८। ३। १६ ॥

सुप् अर्थात् सप्तमी बहुवचन के परे रेफ के स्थान में विसर्जनीय हों तो रु के रेफ ही को हों। इससे 'गिर्' इसके रेफ को विसर्जनीय न हुए। उपधा को दीर्घ और (२) सकार को मूर्द्धन्यादेश होके—गीर्षु। इसी प्रकार—धुर्, पुर्, तुर्, मुर्, जूर्, तूर् इत्यादि शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें। परन्तु रेफान्त शब्दों में चतुर् शब्द के प्रयोग विशेष होते हैं। इस शब्द से बहुवचन विभक्ति ही आती है। और तीनों लिङ्गों में इसका प्रयोग किया जाता है। चतुर्—जस्—

१४९—चतुरनडुहोरामुदात्तः ॥ अ० ७।१।९८ ॥

जो सर्वनामस्थान विभक्ति परे हो तो चतुर् और अनडुह् शब्द को आम् का आगम [हो] और वह उदात्त भी हो। आम् आगम 'तु' से परे होकर—चतु—आ—र्—जस्। यणादेश, विसर्जनीय और इत्सञ्ज्ञादि कार्य होकर—चत्वारः। चतुर्—शस् = चतुरः। पुँल्लिङ्ग में ऐसे प्रयोग होते हैं। नपुंसकलिङ्ग में—जस् और शस् विभक्ति के स्थान में शि आदेश हो जाता है चत्वारि, चत्वारि। स्त्रीलिङ्ग में त्रि—चतुर् शब्द को तिसृ और चतसृ आदेश होजाते हैं। यह सब व्यवस्था ऋकारान्त विषय में कह चुके हैं†। चतुर्भिः, चतुर्भ्यः, चतुर्भ्यः। चतुर्—आम्। यहाँ आम् विभक्ति को नुट् (३) का आगम होकर—

(१) (विसर्जनीय) खरवसानयोर्विसर्जनीयः [ना० १६]।
(२) (स—ष्) आदेशप्रत्ययोः [ना० १७]।
(३) (आम्—नुट्) षट्चतुर्भ्यश्च [ना० ११९]।

† देखो पूर्व पृष्ठ ४५, ४६।

२५०—रषाभ्यां नो णः समानपदे ॥ अ० ८।४।१॥

एकपद में रेफ और षकार से परे नकार को णकारादेश हो। इससे णकार और उसको [विकल्प करके] द्वित्व (१) होजाता है। [चतुर्ण्णाम्] चतुर्णाम्, चतुर्षु। उक्त त्रि और चतुर् शब्द किसी शब्द के साथ बहुव्रीहि समास में हों तो [उनके प्रयोग] सब वचनों में होते हैं जैसे—प्रियचत्वाः, प्रियचत्वारौ, प्रियचत्वारः, प्रियचत्वारम्, प्रियचत्वारौ, प्रियचतुरः; प्रियचतुरा, प्रियचतुर्भ्याम्, प्रियचतुर्भिः; प्रियचतुरे, प्रियचतुर्भ्याम्, प्रियचतुर्भ्यः; प्रियचतुरः, प्रियचतुर्भ्याम्, प्रियचतुर्भ्यः; प्रियचतुरः, प्रियचतुरोः, प्रियचतुराम्, प्रियचतुरि, प्रियचतुरोः, प्रियचतुर्षु। संबुद्धि के परे 'अम् संबुद्धौ'‡ [अ० ७।१।९९] इस सूत्र से अम् का आगम होकर—हे प्रियचत्वः, हे, प्रियचत्वारौ हे प्रियचत्वारः।

॥ इति रेफान्तः॥

वकारान्त नियतस्त्रीलिङ्ग (२) दिव् शब्द ॥

दिव—सु। यहाँ—

१५१—दिव औत् ॥ अ० ७।१।८४ ॥

सु विभक्ति के परे दिव् शब्द को औकारादेश हो। इससे वकार के स्थान में औ होकर—दि—औ—सु। यणादेश होके—द्यौः दिवौ, दिवः; दिवम, दिवौ, दिवः; दिवा। दिव्—भ्याम्—

(१) (द्वित्व) अचो रहाभ्यां द्वे। सन्धि० २२१।

(२) यह प्रकाशमान पदार्थ का नाम है।

‡ संबुद्धि परे रहने पर चतुर् और अनडुह् शब्द को 'अम्' का आगम होता है।

१५२—दिव उत् ॥ अ० ६। १। १३० ॥

पदान्त में दिव् शब्द के वक को उत् आदेश हो। वकार को उकार और पूर्व को यणादेश होकर—द्युभ्याम्, द्युभिः, दिवे, द्युभ्याम्, द्युभ्यः; दिवः, द्युभ्याम्, द्युभ्यः; दिव, दिवोः, दिवाम्; दिवि, दिवोः, द्युषु।

शकारान्त स्त्रीलिङ्ग (१) दिश् शब्द।

दिश्—सु। पदान्त मे (२) कुत्व होकर—दिक्, दिग्, दिशौ, दिशः; दिशम्, दिशौ, दिशः; दिशा, दिग्भ्याम्, दिग्भिः; दिशे, दिग्भ्याम्, दिग्भ्यः; दिशः, दिग्भ्याम्; दिग्भ्यः; दिशः, दिशोः, दिशाम्; दिशि, दिशोः। दिक्—सु, यहाँ भी प्रत्यय सकार को मूर्धन्य षकार होकर—दिक्षु। इसी प्रकार—विश्, लिश्, घृतस्पृश्, दृश्, कीदृश्, ईदृश्, सदृश्, तादृश्, यादृश्, एतादृश्, त्यादृश्, इत्यादि शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें। वेद में विशेष यह है कि—

१५३—दृक्स्ववस्स्वतवसां छन्दसि ॥ अ० ७।१।८३॥

वेद में दृगन्त, स्ववस् और स्वतवस् शब्दों को सु विभक्ति के परे नुम् का आगम हो। जैसे—ईदृङ्, कीदृङ्, यादृङ्, तादृङ्, सदृङ् इत्यादि। स्ववस् और स्वतवस् इन दोनों के प्रयोग सकारान्तों में देख लेना। परन्तु इन तालव्यान्त शब्दों में यदि कोई शब्द नपुंसलिङ्ग में भी आवे तो उसके प्रयोग इस प्रकार होंगे—

शकारान्त नपुंसकलिङ्ग सदृश् शब्द।

सदृक्, सदृग्, सदृशी, सदृंशि। फिर भी—सदृक्, सदृग्, सदृशी, सदृंशि; सदृशा इत्यादि पूर्ववत्।

---

(१) (दिश्) यह शब्द क्विन्प्रत्ययान्त है।

(२) (कुत्व) 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः [मा० ११४] इस सूत्र से।

षकारान्त स्त्रीलिङ्ग प्रावृष् शब्द ।

प्रावृष्—सु । यहाँ (१) षकार को डकार और विकल्प से चर् होकर—प्रावृट्, प्रावृड्, प्रावृषौ, प्रावृषः; प्रावृषम्, प्रावृषौ, प्रावृषः; प्रावृषा, प्रावृड्भ्याम्, प्रावृड्भिः; प्रावृषे, प्रावृड्भ्याम्, प्रावृड्भ्यः; प्रावृषः, प्रावृड्भ्याम्, प्रावृड्भ्यः, प्रावृषः, प्रावृषोः, प्रावृषाम्; प्रावृषि, प्रावृषोः, प्रावृट्त्सु, प्रावृट्सु । इसी प्रकार विप्रुष—त्विष्, रुष् इत्यादि शब्दों के प्रयोग जानने, और प्रश्लिष् आदि पुंलिङ्ग शब्दों के प्रयोग भी प्रावृष् शब्द के समान समझने चाहियें । परन्तु आशिष् शब्द में कुछ विशेष है । आशिष् सु, यहाँ धातु की उपधा के इक् को दीर्घ होकर—आशी: आशिषौ, आशिषः; आशिषम्, आशिषौ, आशिषः; आशिषा (२) आशीर्भ्याम्, आशीर्भिः, आशिषे, आशीर्भ्याम्, आशीर्भ्यः, आशिषः आशीर्भ्याम् [इत्यादि] ।

संख्यावाची बहुवचनान्त षष् शब्द ।

इससे बहुवचन विभक्ति ही आती है । षष्—जस्, षष्—शस् । यहाँ (३) जस् और शस् का लुक् [तथा पूर्ववत् षकार को डकार और विकल्प से चर्] होकर—षट्, [षड्], षट् [षड्], षड्भिः, षड्भ्यः, षड्भ्यः, । षष्—आम्, यहाँ (४) नुट् का आगम होकर—षष्—नाम्, । षकार को ड् ही के—षड्नाम् । यहाँ (५) 'अनाम्'

---

(१) (ष—ड) झलां जशोऽन्ते [सन्धि० १९१] (विकल्प—चर्) वावसाने [ना० ११९] ।

(२) यहां 'हलि च' [ना० १३१] इससे दीर्घ होता है ।

(३) (जस् शस् का लुक्) षड्भ्यो लुक् [ना० १२८] ।

(४) (नुट् आगम) षट्चतुर्भ्यश्च [ना० १२९] ।

(५) (अनाम्) यह प्रतिषेध 'न पदान्ताट्टोरनाम्' सन्धि० २१५ इस सूत्र के विषय से ।

इस प्रतिषेध से ष्टुत्वनिषेध न हुआ, किन्तु टवर्ग डकार से परे तवर्ग नकार को णकार और डकार को परसवर्ण होकर—षण्णाम्। षट्त्सु, षट्सु।

॥ इति षान्ताः ॥

सकारान्त नियतपुल्लिङ्ग चन्द्रमस् शब्द।

चन्द्रमस्—सु, यहाँ (१) दीर्घ होकर—चन्द्रमाः, चन्द्रमसौ, चन्द्रमसः ; चन्द्रमसम्, चन्द्रमसौ, चन्द्रमसः ; चन्द्रमसा। चन्द्रमस्-भ्याम्, यहाँ (२) सकार को रु और रु को उत् आदेश होकर—चन्द्रमोभ्याम्, चन्द्रमोभिः ; चन्द्रमसे, चन्द्रमोभ्याम्, चन्द्रमोभ्यः; चन्द्रमसः, चन्द्रमोभ्याम्, चन्द्रमोभ्यः, चन्द्रमसः, चन्द्रमसोः, चन्द्रमसाम्; चन्द्रमसि, चन्द्रमसोः, चन्द्रमस्सु, चन्द्रमःसु। इसी प्रकार—जातवेदस्, विश्वयशस्, द्रविणोदस्, विश्ववेदस्, विश्वभोजस्, अङ्गिरस्, नोधस्, पुरोधस्, वयोधस्, वेधस्, नृचक्षस् इत्यादि पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें। पूर्व जितने शब्द लिखे हैं वे सब असुन् प्रत्ययान्त हैं। असुन् प्रत्ययान्त पुँल्लिङ्ग शब्दों में विशेष यह है कि—

सकारान्त पुँल्लिङ्ग उशनस् शब्द।

उशनस्—सु। यहाँ अन्त्य को (३) अनङ् आदेश, अङ्मात्र की इत्संज्ञा और एकादेश होकर—उशनन्—सु। यहाँ (४) नान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ और विभक्ति का लोप होके—उशना।

(१) (दीर्घ) अत्वसन्तस्य चाधातोः [भा० १२१]।

(२) (स्—रु) ससजुषो रुः [भा० १४]। (रु—उत्) हशि च [सन्धि० १५४]।

(३) (अनङ्) ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च [भा० ९९]।

(४) (नान्त दीर्घ) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ [भा० ४१]।

और सम्बुद्धि में—हे उशनन् (१), हे उशन, हे उशनः, हे उशनसौ, हे उशनसः। अन्य सब प्रयोग चन्द्रमस् शब्द के समान जानो। इसी के समान—अनेहस्, पुरुदंशस् इन दोनों के भी प्रयोग जानने चाहियें। परन्तु संबुद्धि में जो उशनस् शब्द के तीन प्रयोग लिखे हैं, वैसे इन दोनों के नहीं होंगे। क्योंकि उशनस् शब्द को सम्बुद्धि में भी विकल्प करके अनङादेश और नलोप कहा है, इन दोनों को नहीं। सकारान्त शब्द बहुत प्रकार के होते हैं। उनमें से असुन् प्रत्ययान्त पुँल्लिङ्ग शब्दों को उक्त रीति से जानना चाहिये।

अथ सकारान्त पुँल्लिङ्ग विद्वस् शब्द।

विद्वस्—सु, यहाँ (२) नुम् का आगम होके 'विद्वन्—स्—सु' इस अवस्था में (३) दीर्घ, सुलोप और संयोगान्त लोप होकर—विद्वान्, विद्वांसौ विद्वांसः; विद्वांसम्, विद्वांसौ। विद्वस्—शस् यहाँ—

१५४—वसोः संप्रसारणम् ॥ अ० ६।४।१३१॥

भसंज्ञक वसुप्रत्ययान्त शब्दों को सम्प्रसारण हो। वकार को 'उ' सम्प्रसारण और पूर्वरूप होकर—'विदुस—शस्' इस अवस्था में वसु के सकार को मूर्धन्य आदेश हो जाता है। विदुषः, विदुषा। विद्वस्—भ्याम्—

(१) 'उशनसः संबुद्धावपि पक्षेऽनङिष्यते [न लोपश्च वा]' इस वार्तिक से विकल्प होकर तीन प्रयोग बन जाते हैं।

(२) (नुम्) उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः [ना० ११२]।

(३) (दीर्घ) 'सान्तमहतः संयोगस्य' [ना० १२३] (सु—लोप) 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुति०' [ना० ४८] इस सूत्र से (संयोगान्त-लोप) संयोगान्तस्य लोपः' [ना० ११३] इससे विद्वस् शब्द के सकार का लोप होता है।

१५५—वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ॥ अ० ८।२।७२॥

वसुप्रत्ययान्त, स्रसु, ध्वंसु और अनडुह्, इन शब्दों के पदान्त सकार [तथा] हकार को दकारादेश हो। विद्वद्भ्याम्, विद्वद्भिः; विदुषे, विद्वद्भ्याम्, विद्वद्भ्य ; विदुषः, विद्वद्भ्याम्, विद्वद्भ्यः; विदुषः, विदुषोः, विदुषाम्; विदुषि, विदुषोः, विद्वत्सु। संबोधन में—हे विद्वन्, हे विद्वांसौ, हे विद्वांसः। अथ—पर्णध्वस्। यह शब्द ध्वंसु धातु से बना है इसको भी पदान्त में उक्तसूत्र से दकारादेश होजाता है। जैसे—पर्णध्वत्, पर्णध्वद्, पर्णध्वसौ, पर्णध्वसः; पर्णध्वसम्, पर्णध्वसौ, पर्णध्वसः; पर्णध्वसा, पर्णध्वद्भ्याम्, पर्णध्वद्भिः; पर्णध्वसे, पर्णध्वद्भ्याम्, पर्णध्वद्भ्यः; पर्णध्वसः, पर्णध्वद्भ्याम्, पर्णध्वद्भ्यः पर्णध्वसः, पर्णध्वसो., पर्णध्वसाम्; पर्णध्वसि, पर्णध्वसोः, पर्णध्वत्सु। इसी प्रकार—उखास्रस् आदि शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें। ऊषिवस् यह क्वसु प्रत्ययान्त सकारान्त शब्द है। ऊषिवान्, ऊषिवांसौ, ऊषिवांस.; ऊषिवासम्, ऊषिवांसौ, ऊषुष; ऊषुषा, ऊषिवद्भ्याम्, ऊषिवद्भिः; ऊषुषे, ऊषिवद्भ्याम्, ऊषिवद्भ्यः; ऊषुषः, ऊषिवद्भ्याम्, ऊषिवद्भ्य; ऊषुषः, ऊषुषोः, ऊषुषाम्; ऊषुषि, ऊषुषो, ऊषिवत्सु; हे ऊषिवन्, हे ऊषिवांसौ, हे ऊषिवांसः इसके प्रयोगों में सब कार्य विद्वस् शब्द के समान होते हैं। इसी प्रकार—तस्थिवस्, पपिवस्, सेदिवस्, शुश्रुवस्, उपयिवस् इत्यादि क्वसुप्रत्ययान्त शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें। एक प्रकार के सकारान्त शब्द ईयसुन् प्रत्ययान्त होते हैं। जैसे—श्रेयस्, अल्पीयस्, पापीयस्, कनीयस्, यवीयस् इत्यादि। इन शब्दों के प्रयोग प्रथमा के एकवचन से लेकर पाँच वचनों में विद्वस् शब्द के समान होते हैं। यवीयस्—सु=यवीयान्, यवीयांसौ, यवीयांस.; यवीयांसम्, यवीयांसौ, यवीयसः; यवीयसा, यवीयोभ्याम्, यवीयोभिः; यवसे, यवीयोभ्याम्, यवीयोभ्यः; यवीयस,

यवीयोभ्याम्, यवीयोभ्यः; यवीयसे, यवीयसोः, यवीयसाम्; यवीयसि, यवीयसोः, यवीयस्सु, यवीयःसु; हे यवीयन्, हे यवीयसौ, हे यवीयसः। इसी प्रकार ईयसुन् प्रत्ययान्त सब शब्दों के प्रयोग जानने उचित हैं। ईयसुन् और क्वसुप्रत्ययान्त शब्द जब स्त्रीलिङ्ग में आते हैं तब ईकारान्त होजाते हैं। जैसे विदुषी इत्यादि। और असुन् प्रत्ययान्त अर्थात् अप्सरस्, उषस्, सुमनस् इत्यादि स्त्रीलिङ्ग शब्दों के प्रयोग चन्द्रमस् शब्द के तुल्य होते हैं। असुन् प्रत्ययान्त [पयस् आदि] दो स्वर वाले शब्द प्रायः नपुंसकलिङ्ग में आते हैं†। इनमें इतना भेद है कि—पयस्—सु। सु का लोप होकर—पयः। पयस्—औ, यहाँ औ के स्थान में (१) शी होकर—पयसी। पयस्—जस्, यहाँ भी जस् के स्थान में (२) शि और नुम् का आगम [और दीर्घ] होकर—पयांसि। फिर भी—पयः, पयसी पयांसि। अन्य प्रयोग चन्द्रमस् शब्द के समान समझने चाहियें। इसी प्रकार—मनस्, भूयस्, पाथस्, वचस्, अम्भस् एनस् इत्यादि शब्दों के प्रयोग भी समझने योग्य हैं। स्ववस्, स्वतवस् इन दो सकारान्त शब्दों को वेद विषय में सु विभक्ति के परे नुम् (३) का आगम हो जाता है। जैसे—स्ववान्। स्वतवान्।

१५६—वा—स्ववःस्वतवसोर्मास उषसश्च त इष्यते ॥ अ० ७। ४। ४८ ॥

(१) (औ—शी) नपुंसकाच्च [ना ४०]।

(२) (जस्—शि) जश्शसोः शिः [ना० ४१] (नुम्) उगिदचां सर्वनामस्थाने० [न० ११२]।

(३) (नुम्) स्वस्ववसुस्वतवसां छन्दसि [ना० १५४]।

† असन्तो द्व्यच्कः। लिङ्गानु० १५१।

भकारादि प्रत्यय परे हों तो वैदिक प्रयोग विषय में स्ववस्, स्वतवस्, मास्, उषस् इन शब्दों को तकारादेश हो। जैसे—स्ववद्भिः, स्ववद्भ्यः, स्वतवद्भिः, स्वतवद्भ्यः, माद्भिः; उषद्भिः इत्यादि। एक प्रकार के सकारान्त शब्द इस्, उस् प्रत्ययान्त होते हैं। जैसे—वपुस्, यजुस्, अरुस्, धनुस्, आयुस्, ज्योतिस्, अर्चिस्, शोचिस्, बर्हिस्, हविस्, सर्पिस् इत्यादि सकारान्त शब्दों में कोई विशेष सूत्र नहीं घटते। और इन शब्दों के अन्त्य औपदेशिक सकार (१) को पीछे मूर्धन्यादेश हो जाता है। ये शब्द केवल नपुंसकलिङ्ग में ही आते हैं, परन्तु लिङ्गानुशासन की रीति से अर्चिस् और छदिस् इन शब्दों के प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में भी होते हैं‡।

सकारान्त नपुंसकलिङ्ग यजुस् शब्द।

यजुष्—सु। यहाँ पयस् शब्द के समान सब कार्य होकर—यजुः, यजुषी, यजूंषि। फिर भी—यजुः, यजुषी, यजूंषि, यजुषा। यजुस्—भ्याम्, यहाँ (२) सकार का रु होके अन्य कार्यों की प्राप्ति न होने से रेफ ऊपर चढ़ जाता है—यजुर्भ्याम्, यजुर्भिः, यजुषे, यजुर्भ्याम्, यजुर्भ्यः, यजुषः, यजुर्भ्याम्, यजुर्भ्यः, यजुषः, यजुषोः, यजुषाम्; यजुषि, यजुषोः, यजुःषु, यजुष्षु। तथा इसन्त—ज्योतिः, ज्योतिषी, ज्योतींषि। फिर भी—ज्योतिः, ज्योतिषी, ज्योतींषि, ज्योतिषा, ज्योतिर्भ्याम्, ज्योतिर्भिः; ज्योतिषे, ज्योतिर्भ्याम्,

(१) (स्—मूर्धन्य ष्) आदेशप्रत्यययोः। [भा० ३४]।
(२) (स्—रु) ससजुषो रुः [भा० १४]।

‡ अर्चिः स्त्रियां च, छदिः स्त्रियामेव। लिङ्गानु० १२५, १२६। लिङ्गानुशासन के नियम से 'छदिस्' स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है। परन्तु "पटलं छदिः" की व्याख्या में अमरकोश के व्याख्याता नपुंसकलिङ्ग में भी मानते हैं।

ज्योतिर्भ्यः; ज्योतिषः, ज्योतिर्भ्याम्, ज्योतिर्भ्यः; ज्योतिष, ज्योतिषोः, ज्योतिषाम्; ज्योतिषि, ज्योतिषोः, ज्योतिष्षु ज्योतिःषु। स्त्रीलिङ्ग में इतना भेद है कि—छदिः, छदिषौ, छदिषः। फिर भी—छदिः, छदिषौ, छदिषः। आगे यजुस् और ज्योतिस् के समान जानो।

॥ इति सकारान्ताः ॥

अथ हकारान्त पुंलिङ्ग वा स्त्रीलिङ्ग गोदुह् शब्द।

गोदुह्—सु—

१५७—दादेर्धातोर्घः॥ अ० ८। २। ३२॥

झल् परे हो वा पदान्त में दकारादि धातु के हकार को घकारादेश हो। यहाँ पदान्त में घकार होकर—

१५८—एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः॥ अ० ८। २। ३७॥

स, ध्व, परे हो वा पदान्त में एकाच् धातु का अवयव जो झषन्त उस [के अवयव] बश् को भष् आदेश हो। यहाँ पदान्त में दकार को धकार होकर—गोधुघ्—सु (२) घकार को जस् 'ग्' और उसको विकल्प चर् होकर—गोधुक्, गोधुग्, गोदुहौ, गोदुहः; गोदुहम्, गोदुहौ, गोदुहः; गोदुहा, गोधुग्भ्याम्, गोधुग्भिः; गोदुहे, गोधुग्भ्याम्, गोधुग्भ्यः; गोदुहः, गोधुग्भ्याम्, गोधुग्भ्य; गोदुहः, गोदुहोः, गोदुहाम्, गोदुहि, गोदुहोः, गोधुक्षु। सबोधन में कुछ विशेष नहीं होता। गुडलिह्। इस शब्द के प्रयोग में इतना विशेष है कि हकार को * ढकार होता है। गुडलिट्, गुडलिड्, गुडलिड्भ्याम्, गुडलिट्सु, गुडलिट्त्सु। मित्रद्रुह्, स्नुह्, घृतस्निह् उत्स्नुह् इन चार शब्दों में विशेष है कि—

(२) (घ जश्—ग्) झलां जशोऽन्ते [सन्धि० १९०] (विकल्प चर्) वावसाने [ना० १११]। * हो ढः (अ० ८। २। ३१)।

१५६—वा—द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ॥ अ० ८।२।३३॥

जो झल् परे वा पदान्त में हो तो द्रुह्, मुह्, स्नुह्, स्निह्, इनके ह को विकल्प करके घकारादेश हो। जिस पक्ष में घकार होता है वहाँ गोदुह् शब्द के समान प्रयोग बनते हैं। और जहाँ पर ढकार होता है वहां गुडलिह् शब्द के समान प्रयोग समझने चाहियें।

नियत स्त्रीलिङ्ग उपानह् शब्द ॥

उपानह्—सु, यहाँ—

१६०—नहो धः ॥ अ० ८। २। ३४ ॥

जो झल् परे वा पदान्त में हो तो नह धातु के हकार को धकारादेश हो। धकार को दकार और विकल्प चर् होकर—उपानत् उपानद्; उपानहौ, उपानहः; उपानहम्, उपानहौ, उपानहः; उपानहा, उपानद्भ्याम्, उपानद्भिः; उपानहे, उपानद्भ्याम्, उपानद्भ्यः; उपानहः, उपानद्भ्याम्, उपानद्भ्यः, उपानहः, उपानहोः, उपानहाम्; उपानहि, उपानहोः, उपानत्सु। इसी प्रकार—परीणह् आदि शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें।

हकारान्त नियतपुंलिङ्ग अनडुह् शब्द ।

अनडुह्—सु—

१६१—सावनडुहः ॥ अ० ७। १। ८२ ॥

जो सु विभक्ति परे हो तो अनडुह् शब्द को नुम् का आगम हो। इससे नुम् और संयोगान्त लोप होकर—अनड्वान्। यहां (१) आम् का आगम सर्वनामस्थान विभक्तियों में अन्त्य अच् से परे होता है—अनडु—आन्। यणादेश होकर—अनड्वान्, अनड्वाहौ,

(१) (आम्—आगम) चतुरनडुहोरामुदात्तः [सा० १२९]।

अनड्वाहः; अनड्वाहम्, अनड्वाहौ, अनडुहः; अनडुहा। अनडुह्-भ्याम्, यहाँ हकार को (१) दकारादेश होकर—अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भिः; अनडुहे, अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भ्यः; अनडुहः, अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भ्यः; अनडुहः; अनडुहोः, अनडुहाम्; अनडुहि, अनडुहोः, अनडुत्सु।

॥ इति हकारान्ताः ॥

१६२—पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु ॥ अ० ६। १। ६३ ॥

इस सूत्र के यहाँ लिखने का प्रयोजन यह है कि इस सूत्र में जितने शब्द हैं वे आकारान्तादि क्रमानुसार जहाँ जहाँ लिखे जाते हैं वहाँ वहाँ यह सूत्र कई बार जानना पड़ता, इसलिये यहाँ लिखा। इसमें—पाद, दन्त, मास, हृदय उदक, आस्य इतने शब्द अकारान्त, नासिका, निशा ये दो आकारान्त; असृज्, यह जकारान्त; यूष, दोष ये दो षकारान्त, यकृत्, शकृत् ये दो तकारान्त हैं। सर्वनामस्थान को छोड़ के अन्य विभक्तियों में पाद आदि शब्दों के स्थान में निम्नलिखित आदेश विकल्प करके जानने चाहियें। जैसे पाद शब्द को पद्। पद्—शस् = पदः, पदा, पद्भ्याम्, पद्भिः, पदे, पद्भ्याम्, पद्भ्य, पद., पद्भ्याम्, पद्भ्यः, पदः, पदो, पदाम्; पदि, पदोः, पत्सु। दन्त को दत्—दत दता, दद्भ्याम्, दद्भिः; दते दद्भ्याम्, दद्भ्यः, दत, दद्भ्याम्, दद्भ्य, दत, दतो, दताम्; दति, दतो, दत्सु। नासिका शब्द को नस—नस; नसा, नोभ्याम्, नोभि; नसे, नोभ्याम्, नोभ्य; नसः, नोभ्याम्; नोभ्यः, नस., नसो, नसाम्; नसि, नसो, नस्सु, न सु। मास शब्द को मास् हलन्त आदेश—मासः, मासा। मास्—भ्याम्, यहाँ भोभगोअघो

(१) (हकार को द्) वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः [अ० १५५]।

(१) अपूर्वस्य योऽशि, इस सूत्र से अवर्णपूर्व रु को यकारादेश होकर "हलि सर्वेषाम्" इस सूत्र से यकार का लोप होगया, जैसे—माभ्याम्, माभिः; मासे, माभ्याम्, माभ्यः; मासः, माभ्याम्, माभ्यः; मासः, मासोः, मासाम्; मासि, मासोः, मास्सु माःसु। और वेद में भकारादि विभक्तियों के परे इस हलन्त मास् शब्द के सकार (२) को दकारादेश हो जाता है, जैसे—माद्भ्याम्, माद्भिः, माद्भ्याम्, माद्भ्यः इत्यादि। हृदय शब्द को हृद्—हृदः; हृदा, हृद्भ्याम्, हृद्भिः, हृदे, हृद्भ्याम्, हृद्भ्यः, हृदः, हृद्भ्याम्, हृद्भ्यः; हृदः, हृदोः, हृदाम्; हृदि, हृदोः, हृत्सु। निशा शब्द को निश्—निशः; निशा। निश्—भ्याम्, यहाँ (३) शकार को ष् और उसको डकारादेश होकर—निड्भ्याम्, निड्भि; निशे, निड्भ्याम्, निड्भ्यः, निशः, निड्भ्याम्, निड्भ्यः, निशः, निशोः, निशाम्, निशि, निशोः, निट्त्सु निट्सु। असृज् शब्द को असन् आदेश—असनः, अस्ना, असभ्याम्, असभिः; अस्ने, असभ्याम्, असभ्यः; अस्नः, असभ्याम्, असभ्यः; अस्न', अस्नोः, अस्नाम्; अस्नि, असनि, (४) अस्नोः असतु। यूष् शब्द को यूषन्, दोष् शब्द को दोषन्, यकृत् शब्द को यकन्, शकृत्, शब्द को शकन्, उदक् शब्द का उदन्, आस्य शब्द

---

(१) भोभग० (सन्धि० २४९) हलि० (सन्धि० २५५)।

(२) (स्—द) 'स्वयःस्वतवसोर्मास उपसश्च छन्दसि ॥ इष्यते' यह वार्तिक प्रथम स्वतवस् शब्द पर लिख चुके हैं [पृष्ठ ७५]।

(३) (श् ष्) व्रश्च—भ्रस्—सृज—मृज—यज—राज—भ्राज—च्छ—शां षः [ना० ११७]। (ष—ड्) झलां जशोऽन्ते [सन्धि० १९०]।

(४) यहाँ 'विभाषा ङिश्योः' [ना० ७४] इस सूत्र से विकल्प करके अकार का लोप हो जाता है।

को आसन्। यूषन् आदि सब शब्दों के प्रयोग असन् शब्द के समान जानो। पाद, दन्त, मास, इन तीन शब्दों के प्रयोग दूसरे पक्ष में अकारान्त पुंलिङ्ग पुष्प शब्द के समान; हृदय, उदक, आस्य इन तीनों के अकारान्त नपुंसकलिङ्ग घन शब्द के समान, नासिका और निशा शब्द के प्रयोग कन्या शब्द के समान; असृज् शब्द के प्रयोग ऋत्विज् शब्द के समान; यूष् शब्द के प्रयोग प्रावृष् शब्द के समान; दोष् शब्द के प्रयोग 'आशिष् शब्द के समान और यकृत्, शकृत् शब्दों के प्रयोग 'उदश्वित्' शब्द के समान समझ लेना चाहिये।

[सर्वनाम संज्ञक शब्द]

अब इसके आगे सर्वनामवाची शब्द लिखेंगे। सर्वादि शब्द तीनों लिङ्गों में आते हैं, प्रथम [सर्व शब्द] पुंलिङ्ग में—सर्व—सु=सर्वः, सर्वौ। सर्व—जस—

१६३—जसः शी ॥ अ० ७ । १ । १७ ॥

जो अकारान्त सर्वनाम से परे जस् होवे तो उसको शी आदेश हो जाय। शकार की इत्संज्ञा और पूर्व पर के स्थान में गुण एकादेश होकर—सर्वे; सर्वम्, सर्वौ, सर्वान्, सर्वेण, सर्वाभ्याम्, सर्वैः, सर्व—ङे—

१६४—सर्वनाम्नः स्मै ॥ अ० ७ । १ । १४ ॥

जो अदन्त सर्वनाम से परे ङे विभक्ति होवे तो उसको स्मै आदेश हो जावे, जैसे—सर्वस्मै, सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः। सर्व—ङसि—

१६५—ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ॥ अ० ७।१।१५॥

जो अकारान्त सर्वनाम से परे ङसि और ङि विभक्ति हो तो इनको क्रम से स्मात् और स्मिन् आदेश हों। सर्वस्मात्, सर्व—ङस्, यहाँ (१) स्य आदेश होकर—सर्वस्य, सर्वयोः। सर्व—आम्—

(१) (स्य) 'टाङसिङसामिनात्स्याः' [ना० २४] इससे यह आदेश हुआ है।

१६६—आमि सर्वनाम्नः सुट् ॥ अ० ७।१।५२॥

जो अवर्णान्त सर्वनाम से परे आम् विभक्ति हो तो उसको सुट् आगम हो। सर्व—साम्। यहाँ अङ्ग को (१) एकारादेश और सुट् के सकार को मूर्धन्यादेश होकर—सर्वेषाम्। सर्व—ङि, उक्त सूत्र से ङि को स्मिन् आदेश होकर—सर्वस्मिन्। सर्वयोः, सर्वेषु। नपुंसकलिङ्ग में—सर्वम्, सर्वे, सर्वाणि। फिर भी—सर्वम्, सर्वे, सर्वाणि। आगे सब विभक्तियों में पुंल्लिङ्ग के समान जानना। स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर अकारान्त सर्वादि सब शब्द आकारान्त होकर प्रयोगविषय में कन्या शब्द के तुल्य होते हैं, जैसे—सर्वा, सर्वे, सर्वाः; सर्वाम्, सर्वे, सर्वाः; सर्वया, सर्वाभ्याम्, सर्वाभिः; सर्वा—ङे—

१६७—सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ॥ अ० ७।३।११४॥

जो सर्वादि आबन्त अङ्ग से परे ङित् विभक्ति हो तो उसको स्याट् का आगम हो और सर्वनाम को ह्रस्व भी हो जावे। सर्वस्या—ए। पूर्वपर के स्थान में वृद्धि एकादेश होकर—सर्वस्यै, [सर्वाभ्याम्, सर्वाभ्यः;] सर्वस्याः, सर्वाभ्याम्, सर्वाभ्यः; सर्वस्याः, सर्वयोः, सर्वासाम्। सर्वस्या—ङि, यहाँ आबन्त से परे ङि विभक्ति को (२) आम् आदेश होकर सवर्णदीर्घ एकादेश हो जाता है—सर्वस्याम्, सर्वयोः, सर्वासु। इसी प्रकार तीनों लिङ्ग में विश्व आदि गणपठित शब्दों के भी प्रयोग समझने चाहियें। उभ शब्द नियत द्विवचन में आता है। इसकी सर्वनामसंज्ञा का प्रयोजन अकच् प्रत्यय होना है।

---

(१) (अ—ए) बहुवचने झल्येत् [ना० १०]। (स्—ष्) आदेशप्रत्यययोः [ना० १७]।

(२) (ङि विभक्ति को आम्) 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' यह सूत्र प्रथम [ना० ५२] लिख चुके हैं।

जैसे—उभकौ। उभौ, उभौ, उभाभ्याम्, उभाभ्याम्, उभाभ्याम्, उभयोः, उभयोः। उभय शब्द सर्व शब्द के समान है। जैसे—उभयः, उभयौ, उभये इत्यादि। कतर, कतम, इतर, अन्य, अन्यतर इन पाँच शब्दों के प्रयोग नपुंसकलिङ्ग में कुछ विशेष होते हैं—

१६८—अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः॥ अ० ७।१।२५॥

जो डतर अर्थात् कतर आदि पाँच नपुंसकलिङ्ग में वर्तमान शब्दों से परे सु और अम् विभक्ति हो तो इनके स्थान में अद्ड् आदेश हो। जैसे—कतर—सु, कतर—अम्=कतरत्, कतरद्। इसी प्रकार—कतमत्, इतरत्, अन्यत्, अन्यतरत्। इतर शब्द का वेद में कुछ विशेष है—

१६९—नेतराच्छन्दसि॥ अ० ७।१।२६॥

वैदिक प्रयोगों में जो नपुंसकलिङ्ग में वर्तमान इतर शब्दों से परे सु और अम् विभक्ति होवे तो उसको अद्ड् आदेश न हो। जैसे इतरम्, इतरम्।

१७०—वा०—एकतरात् सर्वत्र॥ १७२॥

सर्वत्र अर्थात् वेद और लोक में जो नपुंसकलिङ्गस्थ एकतर शब्द से परे सु और अम् विभक्ति हो तो उनको अद्ड् न हो। जैसे—एकतरं तिष्ठति, एकतरं पश्य। त्व शब्द अन्य का पर्यायवाची है। इसमें कुछ विशेष नहीं। नेम शब्द में विशेष यह है कि—

अपूर्व विकल्प विधान है। इसलिये जिस पक्ष में सर्वनामसंज्ञा होती है, वहाँ सर्व शब्द के समान जस् विभक्ति के स्थान में शी आदेश हो जाता [है] और जहाँ सर्वनाम संज्ञा नहीं होती वहाँ पुरुष शब्द के तुल्य प्रयोग जस् विभक्ति में होते हैं। जैसे—प्रथमे, प्रथमाः; चरमे, चरमाः; तयप् प्रत्ययान्त—द्वितये, द्वितयाः; त्रितये, त्रितयाः; अल्पे, अल्पाः; अर्धे, अर्धाः; कतिपये, कतिपयाः; नेमे, नेमाः। आगे प्रथमादि शब्दों के प्रयोग पुरुष शब्द के समान और नेम शब्द के सर्व शब्द के समान समझने चाहिये। सम और सिम शब्दों के कुछ विशेष प्रयोग नहीं, किन्तु सर्व शब्द के समान ही हैं।

१७२—पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् ॥ अ० १।१।३४॥

जस् विभक्ति के परे संज्ञाभिन्न व्यवस्था में 'पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर' ये शब्द हों तो इनकी सर्वनामसंज्ञा विकल्प करके हो। और अन्यत्र तो नित्य ही हो जावे। जैसे—पूर्वेषाम्। प्रथमादि शब्द के समान इन के भी रूप होते हैं, जैसे—पूर्वे, पूर्वाः; परे, पराः; अवरे, अवराः; दक्षिणे, दक्षिणाः; उत्तरे, उत्तराः, अपरे, अपराः; अधरे, अधराः; और जहाँ संज्ञा और व्यवस्था अर्थ होगा वहाँ तो पूर्वादिकों की सर्वनामसंज्ञा ही न होगी और पुरुष शब्द के समान प्रयोग होंगे।

१७३—स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् ॥ अ० १।१।३५॥

जस् विभक्ति परे हो तो ज्ञाति अर्थात् बन्धु और धन के पर्यायवाची स्व शब्द को छोड़ के अन्य अर्थों में इसकी सर्वनामसंज्ञा विकल्प करके हो। स्वे पुत्राः, स्वाः पुत्राः। स्वे पितरः, स्वाः पितरः। इसके अन्य सब प्रयोग सर्व शब्द के समान जानो। और जहाँ ज्ञाति और धन के वाची स्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती वहाँ पुरुष शब्द के समान प्रयोग हो जाते हैं।

१७४—अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ॥
— अ० १ । १ । ३६ ॥

बहिर्योग जो कुछ अलग हो और उपसंव्यान जो मिला हो। बहिर्योग और उपसंव्यान अर्थ में जस विभक्ति परे हो तो अन्तर शब्द की सर्वनामसंज्ञा विकल्प करके हो। अन्तरे, अन्तरा वा गृहाः; अन्तरे, अन्तरा वा शाटकाः।

सर्वनामवाची पूर्वादि नव शब्दों में जो विशेष है, सो लिखते हैं—

१७५—पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ॥ अ० ७।१।१६॥

पूर्वादि नव शब्दों से परे जो ङसि और ङि विभक्ति हो तो उनके स्थान में स्मात् और स्मिन् आदेश विकल्प करके हो। जिस पक्ष में उक्त आदेश नहीं होते वहाँ पुरुष शब्द के समान रूप हो जाते हैं। जैसे—पूर्वस्मात्, पूर्वात्; पूर्वस्मिन्, पूर्वे; परस्मात्, परात्; परस्मिन्, परे; अवरस्मात्, अवरात्; अवरस्मिन्, अवरे; दक्षिणस्मात्, दक्षिणात्; दक्षिणस्मिन्, दक्षिणे; उत्तरस्मात्, उत्तरात्; उत्तरस्मिन्, उत्तरे; अपरस्मात्, अपरात्; अपरस्मिन्, अपरे; अधरस्मात्, अधरात्, अधरस्मिन्, अधरे; स्वस्मात्, स्वात्; स्वस्मिन्, स्वे; अन्तरस्मात्, अन्तरात्; अन्तरस्मिन्, अन्तरे।

अब इसके आगे सर्वाद्यन्तर्गत त्यदादि शब्दों के भी प्रयोग तीनों लिङ्गों में दिखलाते हैं। पुँल्लिङ्ग त्यद् शब्द। त्यद्—सु—

१७६—त्यदादीनामः ॥ अ० ७ । २ । १०२ ॥

जो सु आदि विभक्ति परे हों तो त्यदादि शब्दों के अन्त को अकारादेश हो। यहाँ दकार को अकार और दोनों अकारों को [पररूप] एकादेश † होकर—'त्य—सु' इस अवस्था में—

† अतो गुणे [सन्धि० १५२] सूत्र से।

१७७—तदोः सः सावनन्त्ययोः ॥ अ० ७।२।१०२॥

सु विभक्ति परे हो तो त्यदादि शब्दों के आदि वा मध्य में जो तकार दकार हैं उनको सकारादेश हो। जैसे—स्यः, त्यौ, त्ये; त्यम्, त्यौ, त्यान्; त्येन, त्याभ्याम्, त्यैः; त्यस्मै, त्याभ्याम्, त्येभ्यः; त्यस्मात्, त्याभ्याम्, त्येभ्यः; त्यस्य, त्ययोः, त्येषाम्; त्यस्मिन्, त्ययोः, त्येषु। नपुंसकलिङ्ग त्यद् शब्द—त्यद्—सु। यहाँ सु और अम् का लुक् (१) होने से अनन्त्य तकार को सकारादेश नहीं होता। त्यत्, त्यद्, त्ये, त्यानि। फिर भी—त्यत्, त्यद्, त्ये, त्यानि। आगे सर्व शब्द के समान जानो। स्त्रीलिङ्ग त्यद् शब्द—त्यद्—सु। यहाँ विभक्ति-विषय मानकर अकारादेश होके (२) अकारान्त से टाप् (३) हो जाता है—त्या—सु। पीछे अनन्त्य तकार को सकार होकर—स्या, त्ये, त्याः; त्याम्, त्ये, त्याः; त्यया, त्याभ्याम्, त्याभिः; त्यस्यै (४), त्याभ्याम्, त्याभ्यः; त्यस्याः, त्याभ्याम्, त्याभ्यः; त्यस्याः, त्ययोः, त्यासाम्; त्यस्याम्, त्ययोः, त्यासु। पुंल्लिङ्ग तद् शब्द—सः, तौ, ते; तम्, तौ, तान्; तेन, ताभ्याम्, तैः; तस्मै, ताभ्याम्, तेभ्यः; तस्मात्, ताभ्याम्, तेभ्यः; तस्य, तयोः, तेषाम्; तस्मिन् तयोः, तेषु। नपुंसकलिङ्ग तद् शब्द—तत्, तद्, ते तानि; फिर भी—तत्, तद्, ते, तानि। आगे पुंलिङ्ग के समान। स्त्रीलिङ्ग तद् शब्द—सा, ते, ताः; ताम्, ते, ताः; तया, ताभ्याम्, ताभिः; तस्यै, ताभ्याम्, ताभ्यः; तस्याः; ताभ्याम्, ताभ्यः; तस्याः, तयोः, तासाम्; तस्याम्, तयोः, तासु। यहाँ तीनों लिङ्ग में त्यद् शब्द के समान सूत्र लगते हैं, तथा

---

(१) (सु—अम्—लुक्) स्वमोर्नपुंसकात् [ना० ७०]।
(२) (अकारादेश) त्यदादीनामः [ना० १०६]।
(३) (अकारान्त से टाप्) अजाद्यतष्टाप् [स्त्री० २]
(४) (स्याट् का आगम) सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च [ना० १६०]।

यद् शब्द में भी कुछ विशेष नहीं। पुँलिङ्ग यद् शब्द—यः, यौ, ये; यम्, यौ, यान्; येन, याभ्याम्, यैः; यस्मै, याभ्याम्, येभ्यः; यस्मात्, याभ्याम्, येभ्यः; यस्य, ययोः, येषाम्; यस्मिन्, ययोः, येषु। नपुंसकलिङ्ग यद् शब्द—यत्, यद्, ये, यानि। फिर भी—यत्, यद्, ये, यानि। अन्य प्रयोग पुँलिङ्ग के समान जानने चाहिये। स्त्रीलिङ्ग यद् शब्द—या, ये, याः; याम्, ये, याः; यया, याभ्याम्, याभिः; यस्यै, याभ्याम्, याभ्यः; यस्याः, याभ्याम्, याभ्यः; यस्याः, ययोः, यासाम्; यस्याम्, ययोः, यासु। पुँलिङ्ग एतत् शब्द—एतत्—सु। यहाँ एतत् शब्द के मध्य (१) तकार को सकारादेश होकर मूर्धन्य षकारादेश होजाता है। एषः, एतौ, एते।

१७८—द्वितीयाटौस्स्वेनः॥ अ० २।४।३४॥

अन्वादेश विषय में द्वितीया 'टा' और ओस् विभक्ति परे हों तो इदम् और एतत् शब्द का एन आदेश हो। अन्वादेश उसको कहते हैं कि जहाँ एक वाक्य में किसी शब्द को कहकर विषयान्तर प्रकाशित करने के लिए उसी शब्द को दूसरे वाक्य में कहें। जैसे—एतं बालं शिक्षामपीपठः, अथो एनं वेदमध्यापय। एनौ, एनान्। एतेन बालेन रात्रिरधीता, अथो एनेनाहरप्यधीतम्। एतयोर्बालयोः शोभनं शीलम्, अथो एनयोः कुशाग्रा मेधा। यहाँ तीनों जगह उत्तर वाक्य में एनादेश हुआ है। परन्तु केवल एतत् शब्द के प्रयोगों में कुछ विशेष न होगा। एतम्, एतौ, एतान्; एतेन, एताभ्याम्, एतैः; एतस्मै, एताभ्याम्, एतेभ्यः; एतस्मात्, एताभ्याम्, एतेभ्यः; एतस्य, एतयोः, एतेषाम्; एतस्मिन्, एतयोः; एतेषु। नपुंसकलिङ्ग एतत् शब्द—एतत्, एतद्, एते, एतानि। फिर भी—एतत्, एतद्, एते, एतानि। अन्य प्रयोग पूर्व के समान जानना।

(१) (तकार को सकार) तदोः सः सावनन्त्ययोः [ना० १००]।

स्त्रीलिङ्ग एतद् शब्द—एषा, एते, एताः; एताम्, एते, एताः; एतया, एताभ्याम्, एताभिः; एतस्यै, एताभ्याम्, एताभ्यः; एतस्याः, एताभ्याम्, एताभ्यः; एतस्याः, एतयोः, एतासाम्; एतस्याम्, एतयोः, एतासु।

इदम् शब्द।

पुँल्लिङ्ग में इदम्—सु।

१७९—इदमो मः ॥ अ० ७। २। १०८॥

सु विभक्ति परे हो तो इदम् शब्द के मकार को मकार ही आदेश हो अर्थात् त्यदादिकों को जो अकारादेश कहा है सो न हो।

१८०—इदोऽय् पुंसि ॥ अ० ७। २। १११॥

पुँल्लिङ्ग विषय में इदम् शब्द के इद् भाग को अय् आदेश हो। अय्—अम्—स्। हल्ङ्याब्भ्यो लोप होकर—अयम्। इदम्—औ। यहाँ (१) अकारादेश होकर—इद—औ।

१८१—दश्च ॥ अ० ७। २। १०९॥

विभक्ति के परे इदम् शब्द के दकार को मकारादेश हो। इम—औ, यहाँ पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होकर—इमौ। इम—जस्, सर्व शब्द के समान—इमे। इमम्, इमौ, इमान्। इदम् टा, यहाँ भी (२) मकार को अकारादेश और एकादेश होकर—

१८२—अनाप्यकः ॥ अ० ७। २। ११२॥

आप्† अर्थात् टा और ओस् विभक्ति परे हो तो ककारभिन्न

(१) (अकारादेश) त्यदादीनामः [ना० १०६]।

(२) (मकार को अ) त्यदादीनामः [ना० १०६]। (एकादेश) अतो गुणे [सन्धि० १५३]।

† यहां आप् प्रत्याहार का ग्रहण है जिससे 'टा' विभक्ति के आकार से लेकर सुप् विभक्ति के पकार पर्यन्त विभक्तियों का ग्रहण होता है। उत्तर सूत्र "हलि लोपः" में हलादि विभक्तियों में विशेष विधान होने से केवल 'टा' और 'ओस' विभक्तियों में ही इस सूत्र से अनादेश होता है।

इदम् शब्द के इद् भाग को अन आदेश हो। टा के स्थान में अन होकर—अनेन। ककारभिन्न कहने का प्रयोजन यह है कि 'इमकेन' यहाँ अन आदेश न हो। अगले सूत्र में हल ग्रहण के होने से इस सूत्र करके अन आदेश अजादि विभक्तियों में होता है, सो तृतीयादि अजादि विभक्तियों में भी टा और ओस् के परे ही जानना चाहिये अन्यत्र नहीं, [क्योंकि अन्य सब आदेश या आगम होकर हलादि हो जाती हैं]। इद—भ्याम्—

१८३—हलि लोपः ॥ अ० ७। २। ११३ ॥

तृतीयादि हलादि विभक्ति परे हो तो इदम् शब्द के इद् भाग का लोप हो। अ-भ्याम्। अदन्त (१) अङ्ग का दीर्घ होकर—आभ्याम्। अ—भिस, यहाँ भी अदन्त शब्दों के समान भिस् विभक्ति को ऐस् आदेश प्राप्त है इसलिए—

१८४—नेदमदसोरकोः ॥ अ० ७। १। ११ ॥

जो ककारभिन्न इदम् और अदस् शब्द से परे भिस् विभक्ति हो तो उसको ऐस् आदेश न हो। फिर (२) एकारादेश होकर—एभिः। ककारभिन्न इसलिए कहा है कि—इमकैः, अमुकैः। अस्मै, आभ्याम्, एभ्यः, अस्मात्, आभ्याम्, एभ्यः, अस्य। इदम्-ओस्। यहाँ भी पूर्वसूत्र† से अन आदेश होकर—अनयोः, एषाम्, अस्मिन्, अनयोः, एषु। जब इदम् शब्द अन्वादेश में आता है तब कुछ प्रयोग विशेष होते हैं—

---

(१) (अदन्त अङ्ग को दीर्घ) सुपि च [ना० २६]।

(२) (एकारादेश) बहुवचने झल्येत् [ना० १०]।

---

† अर्थात् अनाप्यकः [ना० १८२] सूत्र से।

१८५—इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ ॥ अ० २ । ४ । ३२ ॥

अन्वादेश विषय में तृतीयादि विभक्ति परे हों तो इदम् शब्द के स्थान में अनुदात्त अश् आदेश हो। अन्वादेश के भी रूप जैसे पूर्व लिख चुके वैसे ही होंगे, परन्तु स्वर में भेद होगा। जहाँ तृतीयादि हलादि विभक्तियों में इद् भाग का लोप होगा, वहाँ—'आभ्याम्, अस्मै' ऐसा स्वर होगा। और जहाँ अन्वादेश में अश् आदेश होगा वहाँ 'आभ्याम्, अस्मै' ऐसा होगा। द्वितीयाटौस्स्वेनः [ना० १७८] इस उक्त सूत्र से द्वितीया, टा, ओस् इन तीन विभक्तियों में जैसे एतत् शब्द को उत्तर वाक्य में एन आदेश और पूर्व वाक्य में एतत् शब्द का प्रयोग आता है वैसे यहाँ भी पूर्व वाक्य में इदम् शब्द का प्रयोग और उत्तर वाक्य में अश् आदेश का प्रयोग किया जाता है। नपुंसकलिङ्ग इदम् शब्द इसमें इतना विशेष है कि इदम् के मकार को म और सु विभक्ति को अम् होके—इदम्, इमे, इमानि। फिर भी—इदम्, इमे, इमानि। आगे पुंलिङ्ग के सदृश प्रयोग होंगे। स्त्रीलिङ्ग इदम् शब्द--इदम्—सु। यहाँ अकारादेश का निषेध होकर—

१८६—यः सौ ॥ अ० ७ । २ । ११० ॥

सु विभक्ति परे हो तो इदम् शब्द के दकार को यकारादेश हो, इयम्। आगे इसको अकारादेश के होने से टाप् होकर कन्या शब्द के समान जानो। जैसे—इमे, इमाः; इमाम्, इमे, इमाः। इद—टा, (१) अन् आदेश होके—अनया। यहाँ भी भ्याम्, आदि तृतीयादि हलादि विभक्तियों में (२) इद् भाग का लोप हो जाता है। आभ्याम्,

(१) (इद को—अन्) अनाप्यकः [ना० १८२]।
(२) (इद भाग का लोप) हलि लोपः [ना० १८३]।

आभिः; अस्यै, आभ्याम्, आभ्यः; अस्याः, आभ्याम्, आभ्यः; अस्याः, अनयोः, आसाम्; अस्याम्, अनयोः, आसु।

अदस् शब्द।

पुँल्लिङ्ग में—अदस्—सु—

१८७—अदस औ सुलोपश्च ॥ अ० ७।२।१०७॥

जो सु विभक्ति परे हो तो अदस् शब्द के सकार को औ आदेश और सु विभक्ति का लोप हो जावे। अदस—औ। यहाँ (१) दकार को सकारादेश होकर—असौ। अदस्—औ। यहाँ से आगे 'औ' आदि विभक्तियों में (२) अकारादेश होकर सर्वत्र 'अद' रह जाता है। अद—औ—

१८८—अदसोऽसेर्दादु दो मः ॥ अ० ८।२।८०॥

सकार भिन्न अदस् शब्द के दकार से परे अवर्ण को उवर्ण आदेश और उसके दकार को मकारादेश हो जावे। अमु—औ। यहाँ पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होके—अमू। अद—जस्। सर्व शब्द के समान अदन्त सर्वनाम से परे जस् को शी और पूर्व पर के स्थान में गुण एकादेश होकर—अदे। यहाँ—

१८९—एत ईद्बहुवचने ॥ अ० ८।२।८१॥

अदस् शब्द के दकार से परे जो एकार उसको ईकारादेश और दकार को मकारादेश हो। अमी। अमु—अम्=अमुम्, अमू, अमून्; अमुना, अमूभ्याम्। अदस्—भिस्, (३) यहाँ भिस् को ऐस् का निषेध, एकार को बहुवचन में ईकार और दकार को मकारादेश होकर—अमीभिः। अमुष्मै, अमूभ्याम्, अमीभ्यः; अमुष्मात्,

(१) (दकार को—स्) तदोः सः सावनन्त्ययोः [मा० १०७]।
(२) (अकारादेश) त्यदादीनामः [मा० १७६]।
(३) (भिस् को ऐस् का निषेध) नेदमदसोरकोः [मा० १८४]।

अमूभ्याम्, अमीभ्यः; अमुष्य, अमुयोः, अमीषाम्; अमुष्मिन्, अमुयोः, अमीषु। नपुंसकलिङ्ग अदस् शब्द—अदस्—सु। यहाँ (१) सु और अम् का लुक्, सकार को रुत्व और रु को विसर्जनीय होके—अदः। अमु—औ = अमू, अमूनि। फिर भी—अद, अमू, अमूनि। आगे पुँल्लिङ्ग के समान जानो। स्त्रीलिङ्ग अदस् शब्द—अदस्—सु। पूर्ववत्—असौ। अदा—औ, इस अवस्था में वृद्धि एकादेश दकार से परे औकार को दीर्घ ऊकार और दकार को मकारादेश होकर—अमू, अमू; अमूम्, अमू, अमूः। अदा—टा, यहाँ आकार को एकार और उसको अय् आदेश होकर—अदया, इस अवस्था में दकार से परे अकार को उकार और दकार को मकारादेश होकर—अमुया, अमूभ्याम्, अमूभिः; अमुष्यै, अमूभ्याम्, अमूभ्यः; अमुष्याः, अमूभ्याम्, अमूभ्यः, अमुष्याः, अमुयोः, अमूषाम्; अमुष्याम्, अमुयोः, अमूषु।

एक शब्द।

पुँल्लिङ्ग में—एकः, एकौ, एके; एकम्, एकौ, एकान्; एकेन, एकाभ्याम्, एकैः; एकस्मै, एकाभ्याम्, एकेभ्यः; एकस्मात् एकाभ्याम्, एकेभ्यः, एकस्य, एकयोः, एकेषाम्; एकस्मिन्, एकयोः एकेषु। नपुंसकलिङ्ग में—एकम्, एके, एकानि। फिर भी—एकम्, एके एकानि। आगे पुँल्लिङ्ग के समान। स्त्रीलिङ्ग एक शब्द—सर्वा शब्द के समान। जैसे—एका, एके, एकाः; एकाम्, एके, एकाः; एकया, एकाभ्याम्, एकाभिः; एकस्यै, एकाभ्याम्, एकाभ्यः; एकस्याः, एकाभ्याम्, एकाभ्यः, एकस्याः एकयोः, एकासाम्, एकस्याम्, एकयोः, एकासु।

(१) (सु—अम् का लुक्) स्वमोर्नपुंसकात् [ना० ७०]।
(स्—रु) ससजुषो रुः [ना० १४]।

संख्यावाची द्वि शब्द ।

इस शब्द के नियत द्विवचनान्त ही प्रयोग किये जाते हैं । पुँल्लिंग में द्वि—औ । त्यदादिकों में रहने से अकारादेश होकर वृद्धि एकादेश होजाता है । द्वौ, द्वौ । द्वि—भ्याम्, आकारादेश और दीर्घ होकर—द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वयो, द्वयो । नपुंसक और स्त्रीलिङ्ग में प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में—'द्वे, द्वे' ऐसे प्रयोग होंगे । आगे पुल्लिङ्ग के तुल्य जानो ।

युष्मद् और अस्मद् शब्द ।

इन दोनों शब्दों के तीनों लिङ्ग और सातों विभक्तियों में एक प्रकार के प्रयोग होते हैं । इसलिये इनके प्रयोग साथ साथ ही लिखते हैं । युष्मद्—सु, अस्मद्—सु ।

१९०—मपर्यन्तस्य ॥ अ० ७ । २ । ९१ ॥

यह अधिकार सूत्र है । यहाँ से आगे युष्मद् और अस्मद् शब्द को जो आदेश कहें वे मपर्यन्त को हों ।

१९१—त्वाहौ सौ ॥ अ० ७ । २ । ९४ ॥

जो सु विभक्ति परे हो तो युष्मद् अस्मद् शब्दों के 'मपर्यन्त के स्थान में क्रम से त्व और अह आदेश हों । युष्म्, अस्म् को आदेश होकर—त्व—अद्—सु, अह—अद्—सु ।

१९२—शेषे लोपः ॥ अ० ७ । २ । ९० ॥

शेष अर्थात् आदेश होकर जो अद् भाग बचा है उसका लोप हो । जैसे—त्व—सु, अह—सु ।

१९३—ङे प्रथमयोरम् ॥ अ० ७ । १ । २८ ॥

जो युष्मद् अस्मद् शब्दों से परे ङे और प्रथमा, द्वितीया विभक्ति

हों तो इन के स्थान में अम् आदेश हो। जैसे—त्व—अम्, अह—अम्। पूर्वरूप एकादेश होकर—त्वम्, अहम्। युष्मद्—औ, अस्मद्—औ।

१९४—युवावौ द्विवचने ॥ अ० ७ । २ । ९२ ॥

द्विवचन विभक्तियों के परे युष्मद् अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त के स्थान मे क्रम से युव, आव, आदेश हों। युव—अद्—औ, आव—अद्—औ। अद् भाग का लोप होके—युव औ, आव—औ।

१९५—प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ॥ अ० ७ । २ । ८८ ॥

जो भाषा अर्थात् लौकिक प्रयोगविषय मे प्रथमा विभक्ति का द्विवचन परे हो तो युष्मद् अस्मद् शब्द को आकारादेश हो। जैसे—युवाम्, आवाम्। भाषा में कहने से वेद में आकारादेश नहीं होता। युवम्, आवम् ऐसे ही प्रयोग होते हैं। युष्मद्-जस्, अस्मद्-जस्।

१९६—यूयवयौ जसि ॥ अ० ७ । २ । ९३ ॥

जो जस् विभक्ति परे हो तो युष्मद्, अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त के स्थान मे क्रम से यूय, वय आदेश हों। शेष अद् भाग का लोप और जस् को (१) अम् आदेश होकर—यूयम्, वयम्। युष्मद्—अम्, अस्मद्—अम्।

१९७—त्वमावेकवचने ॥ अ० ७ । २ । ९७ ॥

एकवचन विभक्तियों में युष्मद्, अस्मद् शब्द के मपर्यन्त के स्थान में क्रम से त्व, म आदेश हों। त्व—अद्—अम्, म—अद्—अम्।

१९८—द्वितीयायां च ॥ अ० ७ । २ । ८७ ॥

---

(१) (जस् को अम् आदेश) के प्रथमयोरम् [ना० १९१]।

द्वितीयाविभक्ति के परे युष्मद् अस्मद् शब्द को आकारादेश हो। अन्त्य दकार को आकार और दोनों को सवर्णदीर्घ एकादेश होकर—त्वाम्, माम्। युष्मद्—औ, अस्मद्—औ। यहाँ मपर्यन्त को युव, आव, दकार को आकार, औ के स्थान में अम् और पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश होकर—युवाम्, आवाम्। युष्मद्—शस्, अस्मद्—शस्। यहाँ भी दकार को आकार और सवर्णदीर्घ एकादेश होके—

१६६—शसो न ॥ अ० ७। १। २६ ॥

युष्मद् अस्मद् शब्द से परे जो शस् उस सकार को नकारादेश (१) हो। जैसे—युष्मान्, अस्मान्। युष्मद्—टा, अस्मद्—टा। यहाँ एकवचन में 'युष्मद्, अस्मद्' के मपर्यन्त को त्व, म, आदेश होके—त्व—अद्—टा, म—अद्—टा।

२००—योऽचि ॥ अ० ७। २। ८६ ॥

अनादेश अर्थात् जिसको कोई आदेश न हुआ हो वह अजादि विभक्ति परे हो तो युष्मद् अस्मद् शब्द को यकारादेश हो। अन्त्य दकार का य् और अकार को पूर्वरूप एकादेश होकर—त्वया, मया। द्विवचन में—युव—अद्—भ्याम्, आव—अद्—भ्याम्। यहाँ—

२०१—युष्मदस्मदोरनादेशे ॥ अ० ७।२।८६॥

जिसको कोई आदेश न हुआ हो वह हलादि विभक्ति परे हो तो युष्मद् अस्मद् शब्द को आकारादेश हो। दकार को आकार और दीर्घ एकादेश होके—युवाभ्याम्, आवाभ्याम्; युष्माभिः, अस्माभिः। युष्मद्—ङे।

(१) यहाँ 'आदेः परस्य' (सन्धि० ८८) इससे शस् के आकार के स्थान पर नकारादेश होकर 'संयोगान्तस्य लोपः' [ना० ११२] से सकार का लोप होता है।

२०२—तुभ्यमह्यौ ङयि ॥ अ० ७ । २ । ६५ ॥

ङे विभक्ति परे हो तो युष्मद् अस्मद् शब्द के मपर्यन्त को तुभ्य और मह्य आदेश क्रम से हों । विभक्ति को अम् (१) आदेश और अद्भाग का लोप होके—तुभ्यम्, मह्यम्, युवाभ्याम्, आवाभ्याम् । युष्मद्—भ्यस्, अस्मद्—भ्यस—

२०३—भ्यसोऽभ्यम् ॥ अ० ७ । १ । ३० ॥

युष्मद् अस्मद् शब्दों से परे भ्यस् विभक्ति को अभ्यम् आदेश हो । अद्भाग का लोप होकर—युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् । युष्मद्—ङसि, अस्मद्—ङसि । यहाँ एकवचन में मपर्यन्त को त्व, म आदेश और अद्भाग का (२) लोप होकर—

२०४—एकवचनस्य च ॥ अ० ७ । १ । ३२ ॥

जो युष्मद् अस्मद् से परे पञ्चमी विभक्ति का एकवचन हो तो उसको अत् आदेश हो । त्व—अत्, म—अत् । (३) पररूप एकादेश होकर—त्वत्, मत् । युवाभ्याम्, आवाभ्याम् । युष्मद्—भ्यस्, अस्मद्—भ्यस् । यहाँ अद्भाग का (२) लोप होके—

२०५—पञ्चम्या अत् ॥ ७ । १ । ३१ ॥

जो युष्मद् अस्मद् शब्द से परे पञ्चमी विभक्ति का भ्यस् हो तो उसको अत् आदेश हो । पररूप एकादेश होके—युष्मत्, अस्मत् । युष्मद्—ङस्, अस्मद्—ङस्—

२०६—तवममौ ङसि ॥ अ० ७ । २ । ९६ ॥

ङस् विभक्ति के परे युष्मद् अस्मद् शब्द के मपर्यन्त को तव

(१) (विभक्ति को अम्) ङे प्रथमयोरम् [ना० १९१] ।
(२) अद्—लोप—शेषे लोपः (ना० १९२) ।
(३) (पररूप) अतो गुणे [सन्धि० १५३] ।

और मम आदेश हो। यहाँ भी अद्‌भाग का लोप होकर—तव—ङस्, मम—ङस्—

२०७—युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ॥ अ० ७।१।२७॥

जो युष्मद् अस्मद् शब्दों से परे ङस् विभक्ति हो तो उसको अश् आदेश होवे। अश् आदेश में शकार इसलिए है कि ङस्मात्र के स्थान में अकार हो जावे। पररूप एकादेश होके—तव, मम। युष्मद्—ओस, अस्मद्—ओस। यहाँ भी द्विवचन में मपर्यन्त को युव, आव और (१) दकार को यकारादेश होकर—युवयो, आवयो। युष्मद्—आम, अस्मद्—आम्। यहाँ सर्वनामसंज्ञा होने से (२) सुट् और अद्‌भाग का लोप होकर—

२०८—साम आकम् ॥ अ० ७ । १ । ३३ ॥

जो युष्मद् अस्मद् शब्द से परे सुट् सहित षष्ठी का बहुवचन आम् विभक्ति हो तो उसको आकम आदेश हो। फिर एकादेश होकर—युष्माकम्, अस्माकम्। युष्मद्—ङि, अस्मद्—ङि। यहाँ एकवचन में मपर्यन्त को त्व, म और दकार को यकारादेश होके—त्वयि, मयि, युवयो, आवयो। युष्मद्—सु, अस्मद्—सु। यहाँ दकार को आकार (३) आदेश होके—युष्मासु, अस्मासु। अब इन दो शब्दों में इतना विशेष है कि—

२०९—युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयो-र्वान्नावौ ॥ अ० ८ । १ । २० ॥

जो षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया विभक्ति में वर्तमान, पद से परे [अपदादि में] युष्मद् अस्मद् पद हों तो उनके स्थान में क्रम से

(१) (द् को य) योऽचि [मा० २००]।
(२) (सुट्) आमि सर्वनाम्नः सुट् [मा० १६६]।
(३) (द को आ) युष्मदस्मदोरनादेशे [मा० २०१]।

वाम् और नौ आदेश हों, और वे अनुदात्त भी हो जावें। यहाँ वाम् और नौ द्विवचन युष्मद् अस्मद् के स्थान में समझे जाते हैं। जैसे—षष्ठी द्विवचन—युष्मद् ओस्, अस्मद्—ओस् = ग्रामो वां स्वम्, जनपदो नौ स्वम्। यहाँ 'युवयोः, आवयोः' ऐसा प्राप्त था। चतुर्थीस्थ—ग्रामो वां दीयते, जनपदो नौ दीयते। यहाँ 'युवाभ्याम् आवाभ्याम्' प्राप्त हैं। द्वितीयास्थ—माणवको वां पश्यति, माणवको नौ पश्यति। यहां युवाम्, आवाम्' प्राप्त हैं। इस सूत्र में 'स्थ' ग्रहण इसलिये है कि 'दृष्टो मया युष्मत्पुत्रः' यहां समास में षष्ठी का लुक होने से आदेश और अनुदात्त भी नहीं हुआ।

२१०—बहुवचनस्य वस्नसौ॥ अ० ८।१।२१॥

जो षष्ठी चतुर्थी और द्वितीया विभक्ति में वर्तमान, पद से परे [अपदादि में] बहुवचनान्त युष्मद् अस्मद् पद हों तो उनके स्थान में वस् और नस् आदेश हों। जैसे षष्ठीस्थ—विद्या वो धनम्, राज्यं नो धनम्। यहां 'युष्माकम्, अस्माकम्' ऐसा प्राप्त था। चतुर्थीस्थ—नमो वः पितरः, शन्नो भवतु। यहां 'युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्' पाता है। द्वितीयास्थ—बालो वः पश्यति, मा नो वधीः। यहां 'युष्मान्, अस्मान्' प्राप्त था।

२११—तेमयावेकवचनस्य॥ अ० ८।१।२२॥

जो षष्ठी और चतुर्थी विभक्ति के साथ वर्तमान पद से परे अपादादि में एकवचनान्त युष्मद् अस्मद् पद हों तो उनके स्थान में ते, मे आदेश हों। जैसे—[षष्ठीस्थ—विद्या ते धनम्, राज्य मे धनम्। यहाँ 'तव' और 'मम' पाता है।] चतुर्थीस्थ—नि मे धेहि, नि ते दधे। तुभ्यम्, मह्यम्' ऐसा प्राप्त है इत्यादि।

२१२—त्वामौ द्वितीयायाः॥ अ० ८।१।२३॥

जो पद से परे द्वितीयान्त एकवचन में युष्मद् अस्मद् पद हों

तो उनके स्थान में त्वा मा ये अनुदात्त आदेश हों। जैसे—कस्त्वा युनक्ति, पुनन्तु मा देवजनाः इत्यादि। यहाँ त्वाम्, माम्' प्राप्त हैं।

२१३—न चवाहाहैवयुक्ते ॥ अ० ८।१।२४॥

जो युष्मद् अस्मद् के साथ च, वा, ह, अह, एव का योग हो तो उनके स्थान में वाम्, नौ आदि आदेश न हों। जैसे—ग्रामो युवयोश्च स्वम्, ग्रामो आवयोश्च स्वम् इत्यादि।

२१४—पश्यार्थैश्चनालोचने ॥ अ० ८।१।२५॥

जो पश्यार्थ धातुओं के अनालोचन अर्थ में वर्तमान युष्मद् अस्मद् पद हों तो उनके स्थान में वां नौ आदि आदेश न हों। जैसे—ग्रामस्त्वां समीक्ष्य संदश्य समीक्ष्य [वा] गतः, [ग्रामो मा संप्रेक्ष्य गतः;] ग्रामो मम [स्व] संप्रेक्ष्य गतः। ग्रामो मम [स्वं] संप्रेक्ष्य गतः,[ग्रामस्तुभ्यं दीयमानं संप्रेक्ष्य गतः, ग्रामो मह्यं दीयमानं संप्रेक्ष्य गतः] इत्यादि।

२१५—सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा ॥

अ० ८ । १ । २६ ॥

प्रथमान्त पद जिससे पूर्व हो ऐसे युष्मद् अस्मद् पद हों तो उनके स्थान में वां नौ आदि आदेश विकल्प करके हों। जैसे—अथो ग्रामे कम्बलो मे स्वम्, अथो ग्रामे कम्बलो मम स्वम्; अथो जनपदे कम्बलस्ते स्वम्, अथो जनपदे कम्बलस्तव स्वम् इत्यादि।

२१६–वा०—युष्मदस्मदोरन्यतरस्यामनन्वादेशे ॥

अ० ८ । १ । २६ ॥

जहाँ अन्वादेश अर्थात् किसी वाक्य के पीछे उसी का निर्देश करना न हो ऐसे अर्थ में वर्तमान जो युष्मद् अस्मद् पद हों तो उनके स्थान में वाम् नौ आदेश विकल्प करके हों। जैसे—ग्रामे

कम्बलो वां स्वम्, ग्रामे कम्बलो युवायोः स्वम्; ग्रामे कम्बलो नौ स्वम्, ग्रामे कम्बलो आवयोः स्वम्।

२१७—वा०—अपर आह । सर्व एव वान्नावद्-योऽनन्वादेशे विभाषा वक्तव्याः ॥ अ० ८।१,२६॥

इस विषय में किन्हीं लोगों का ऐसा मत है कि अनन्वादेश मे सब वां, नौ आदि आदेश विकल्प करके हों। जैसे—कम्बलस्ते स्वम्, कम्बलस्तव स्वम्; कम्बलो मे स्वम्, कम्बलो मम स्वम्।

भवत् शब्द

भवत् शब्द सर्वादिगण में पढ़ा है इसकी सर्वनाम संज्ञा होने का प्रयोजन यह है कि "अकच्छेषात्वार्थान" । अकच्—भवकान्, शेष—स च भवाश्च भवन्तौ, आत्व—भवादृशः। पुँलिङ्ग भवत् शब्द—भवत्—सु। यहाँ सर्वनामस्थान संज्ञा होने से (१) नुम्, सु के परे दीर्घ, हल् से परे सकार का लोप और संयोगान्तलोप होकर—भवान् भवन्तौ, भवन्तः; भवन्तम्, भवन्तौ, भवतः; भवता, भवद्भ्याम्, भवद्भिः; भवते, भवद्भ्याम्, भवद्भ्य; भवतः, भवद्भ्याम्, भवद्भ्यः; भवत', भवतोः, भवताम्; भवति, भवतो', भवत्सु। इस के सब कार्य तकारान्त पठत् शब्द के समान और नपुंसकलिङ्ग में उदश्वित् शब्द के समान समझो। स्त्रीलिङ्ग मे ईकारान्त होके—'भवती, भवत्यौ, भवत्य.' इत्यादि स्त्रीलिङ्ग ईकारान्त कुमारी शब्द के समान जानो। सर्वनाम पुँलिङ्ग किम् शब्द। किम्—सु—

२१८—किमः कः ॥ अ० ७। २। १०३ ॥

---

(१) (नुम्) उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः. [ना० ११२]। (सु के के परे दीर्घ) अत्वसंतस्य चाधातोः. [ना० १२१]। (हल् से सल्लोप) हल्ङ्या [ना० ४८]।(संयोगान्त लोप) संयोगान्तस्य लोपः [ना० ११३]।

सब विभक्तियों में किम् शब्द को क आदेश हो। अन्य कार्य सर्व शब्द के समान [हैं]। कः, कौ, के; कम्, कौ, कान्; केन, काभ्याम्, कैः; कस्मै, काभ्याम्, केभ्यः; कस्मात्, काभ्याम्, केभ्यः; कस्य, कयो, केषाम्; कस्मिन्, कयोः, केषु। नपुंसकलिङ्ग में—किम्, के, कानि। फिर भी—किम्, के, कानि। आगे पुँलिङ्ग के समान। स्त्रीलिङ्ग में—का, के, का; काम्, के, काः; कया, काभ्याम्, काभिः; कस्यै, काभ्याम्, काभ्यः; कस्याः, काभ्याम्, काभ्यः; कस्याः, कयोः, कासाम्, कस्याम्, कयोः, कासु। शब्दों का रूपविषय पूरा हुआ।

अब वे नियम लिखते हैं कि जो वेदों में पुरुष आदि सब शब्द मात्र में घटेंगे।

२१९—सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्या-याजालः॥ अ० ७। १। ३९॥

२२०—वा०—सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्॥ अ० ७। १। ३९॥

सूत्र और वार्तिक का अर्थ इकट्ठा ही किया जाता है। वैदिक प्रयोग विषय में सुप् अर्थात् सु आदि इक्कीस प्रत्यय कि जिनको सात विभक्ति कहते हैं उनके स्थान में सुप् अर्थात् किसी के स्थान में कोई प्रत्यय का आदेश लुक्, पूर्वसवर्ण, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच् आल् ये आदेश हो जाते हैं। सुप्—ऋजवः सुपन्थाः। यहाँ बहुवचन जस् के स्थान में एकवचन सु आदेश हुआ है, 'पन्थानः' ऐसा प्राप्त था। युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणायाः यहाँ सप्तमी एकवचन के स्थान में षष्ठी का एकवचन हो जाता है, 'दक्षिणायाम्' ऐसा पाता था। लुक्—परमे व्योमन्। यहाँ सप्तमी के एकवचन का लुक् हो गया है। 'व्योमनि' ऐसा प्राप्त है। सोमो गौरी अधिश्रितः, मामकी इति

तन् इति । यहाँ सप्तमी के एकवचन का लुक हुआ है, 'सोमो गौर्याम्' मासक्याम तन्वाम्' ऐसा प्राप्त था । पूर्वसवर्ण—'धीती, मती' यहाँ तृतीया के एकवचन का पूर्वसवर्ण आदेश हुआ है, 'धीत्या, मत्या' ऐसा प्राप्त था । आत्—उभा यन्तारा, यहाँ प्रथमा वा द्वितीया के द्विवचन के स्थान में 'उभौ यन्तारौ' ऐसा पाता था । शे—युष्मे वाजबन्धव यहाँ बहुवचन जस् के स्थान मे । 'यूय वाजबन्धव.' ऐसा प्राप्त था । या—उरुया, यहाँ तृतीया के एकवचन टा के स्थान में । 'उरुणा' ऐसा प्राप्त था । डा—नाभा पृथिव्याम् , यहाँ सप्तमी के एकवचन के स्थान म डा हो गया है । 'नाभौ पृथिव्याम्' ऐसा प्राप्त था । ड्या—अनुष्टया, यहाँ तृतीया के एकवचन के स्थान में ड्या हो गया है । अनुष्टुभा ऐसा प्राप्त था । याच्—साधुया, यहाँ प्रथमा के एकवचन को याच् हुआ है । 'साधु ' ऐसा होना था । आल्—वसन्ता यजेत यहाँ सप्तमी के एकवचन को आल् आदेश हो गया है 'वसन्ते' ऐसा होना था ।

२२१–वा०–इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् ॥
अ० ७ । १ । ३९ ॥

सुपों के स्थान में इया, डियाच, ईकार, ये तीन आदेश हों । इया—दार्विया परिज्मन् । यहाँ तृतीया के एकवचन को इया होगया है । 'दारुणा' ऐसा पाता था । डियाच्—सुमित्रिया न आप ओषधय सन्तु, सुक्षेत्रिया, सुगात्रिया । यहा भी 'सुमित्रा ' और 'सुक्षेत्रिया, सुगात्रिया' ऐसा प्राप्त था । ईकार—दृति न शुष्क सरसी शयानम् । यहा सप्तमी के एकवचन को ईकार होगया है । 'सरसि शयानम्' ऐसा होना था ।

२२२–आड्याजयारां चोपसंख्यानम् ॥ अ० ७।१।३९॥
आड्, अयाच्, अयार् ये भी ती[illegible]

आड्—प्र बाहवा। यहाँ तृतीया के एकवचनको आड् आदेश हुआ है, 'प्र बाहुना' ऐसा प्राप्त था। अयाच्—स्वप्नया वावसेचनम्। यहाँ भी तृतीया के स्थान मे अयाच् हुआ है, 'स्वप्नेन' ऐसा प्राप्त था। अयार्—स नः सिन्धुमिव नावया। यहाँ भी तृतीया के एकवचन को अयार् हुआ है, 'नावा' ऐसा प्राप्त है।

अथ लिङ्गानुशासनविषयक प्रत्ययों का संकेत करते हैं।

अष्टाध्यायी और उणादिस्थ प्रत्ययो का परिगणन कि जिनके तीनो लिङ्ग मे प्रयोग होते हैं—तव्यत् तव्य, अनीयर्, केलिमर्, यत्, क्यप्, ण्यत्, ण्वुल्, तृच, ल्यु, णिनि, क, श, क, ष्वुन्, थकन्, ण्युट्, वुन्, अण्, क, टक्, अच्, टा, इन, खश, खच्, अण्, ड, णिनि, टक्, ख्युन्, खिष्णुच्, खुकञ्, किन्, कञ् क्विप्, णिव, ल्युट्, विट्, कप्, णिवन्, विच्, मनिन्, वनिप्, वनिप्, क्विप्, णिनि, क्विप्, इनि, क्वनिप्, ड, निष्ठा, ङ्वनिप्, अतृन, कानच्, क्वसु, शतृ, शानच्, शानन्, चानश्, शतृ, तृन्, इष्णुच्, ग्स्नु, क्नु, घिनुण्, वुन्, युच्, उकञ्, षाकन्, इनि, आलुच्, रु, क्मरच्, घुरच्, कुरच्, क्वरप्, ऊक, र, उ, कि, किन्, नजिङ्, आरु, क्रु, क्लुकन्, क्रुकन्, वरच्, विवप्, ष्ट्रन्, इत्र, क, ण्वुल्, अण्, ख्ल्, यच्, इतने कृत् प्रत्ययान्त और तद्धित [प्रत्ययान्त] सब शब्द तीनों लिङ्गों में आते हैं। नियत पुंलिङ्ग प्रत्यय—घञ्, अप्, अच्, (अच् प्रत्ययान्तों में भयादि शब्दों को छोड़कर) अथुच्, नङ्, नन्, कि, घ, ड, डर्, इक्, इकवक्, घनादि प्रत्ययान्त शब्द कर्त्ता भिन्न सब कारक और भाव में नियत पुंलिङ्ग ही आते हैं, परन्तु नङ् प्रत्ययान्तों में 'याञ्चा' शब्द को छोड़ के, क्योंकि यह केवल स्त्रीलिङ्ग में ही आता है। नियत नपुंसकलिङ्ग के प्रत्यय—क्त, ल्युट् प्रत्यय कर्त्ता भिन्न कारक

॥ ओ३म् ॥

आर्यसमाज के नियम

१—सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदिमूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रेम पूर्वक, धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

॥ ओ३म् ॥

अथ वेदांगप्रकाशः

कारकीयः

प्रकाशक—
आर्य साहित्य मण्डल लि०, अजमेर.

॥ ओ३म् ॥

अथ वेदाङ्गप्रकाशः ॥

★ तत्रत्यश्चतुर्थो भागः ★

कारकीयः

❀ पाणिनीयाष्टाध्याय्यां तृतीयो भागः ❀

श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतव्याख्यासहितः ।

श्रीपण्डितयुधिष्ठिर मीमांसकेन संशोध्य
टिप्पणीभिरलङ्कृतः

पठनपाठनव्यवस्थायां षष्ठं पुस्तकम् ।

प्रकाशक
आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर

प्रथमावृत्ति १००० | संवत् २०११ दयानन्दाब्द १३१ | मूल्य ॥=)

प्रकाशक—
आर्य-साहित्य मण्डल लिमिटेड,
अजमेर



मुद्रक—
शिरीशचन्द्र शिवहरे, एम० ए०
दी फाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर

भूमिका



मैंने कारकीय ग्रन्थ इसलिये बनाया है कि जिससे पढ़ाने और पढ़ने वालों को सुगमता से कारक का बोध होके वेदादि शास्त्रों का वाक्यार्थ बोध सुगमता से होवे। मनुष्य जितना अर्थ कारकों से जान सकता है उतना अन्य प्रकरणों से नहीं, क्योंकि यह कारकसमूह क्रिया द्रव्य और गुणवाची शब्दों के संबन्ध से समस्त वाक्यों के अर्थों का प्रकाशक है। उच्यतेऽर्थस्य विज्ञानाय विज्ञापनाय वा यत्तद्वाक्यम्। जो अर्थ के जानने और जनाने के लिये कहा जाता है, वह वाक्य कहाता है। जो मनुष्य आठों[1] कारकों की विद्या को यथावत् जान लेता है वह वाक्यार्थों में सुबोध होता है। जिस लिये कारक संज्ञा के अधीन ही प्रथमा आदि विभक्तियों का विधान अष्टाध्यायी में है। इसलिये इस ग्रन्थ में कारक सूत्रों के साथ विभक्ति विधायक सूत्रों को भी लिख के उदाहरण प्रत्युदाहरण लिखे हैं। यहां एक उदाहरण वा प्रत्युदाहरण को जान और जना के उसके सदृश असंख्यात उदाहरणों को अध्यापक लोग जान लें और विद्यार्थियों को भी जना देवें कि जिस से सद्यः संस्कृत बोल, दूसरे के संस्कृत को

---

१. संस्कृत व्याकरण के अनुसार "शेष" अर्थात् "सम्बन्ध" की कारक संज्ञा नहीं होती। आर्यभाषा के व्याकरण में इसकी कारक संज्ञा मानी है। यतः यह ग्रन्थ आर्यभाषा में लिखा गया है अतः उसी के अनुसार यहां भी व्यवहार किया है। हेतु की कर्ता संज्ञा भी होती है अतः यह कर्ता के अन्तर्भूत है। यहां उसे पृथक् गिना है। इसी ग्रन्थ का देखो उपक्रम प्रकरण। यु० मी०।

समझ और वेदादि शास्त्रों के वाक्यार्थ जान के व्यवहार में भी बहुत उपकार होवे। जैसे किसी से किसी ने पूछा कि "त्वं कस्मादागच्छसि" तूं कहां से आता है। वह उत्तर देवे कि "नगरात्" नगर से। इस एक ही पद से कारक का जानने हारा "अहमागच्छामि" इन दोनों पदों के कहे विना भी पूरा वाक्यार्थ जान लेता है। कारकों के बोध ही से मनुष्य कारक विषयों का विद्वान् हो सकता है इत्यादि प्रयोजनों के लिये कारकों का जानना जनाना सब को उचित है। ग्रन्थ में अ० संकेत से अष्टाध्यायी। पहली संख्या से अध्याय, दूसरी से पाद और तीसरी से सूत्र समझ लेना।

॥ इति भूमिका ॥

विषय सूची



विषय	पृष्ठ

सम्पादकीय

वेदाङ्गप्रकाश के संशोधित संस्करण प्रकाशित करने का जो उपक्रम आर्य साहित्य मण्डल ने किया है उसी के फलस्वरूप यह कारकीय नामक भाग प्रकाशित किया जा रहा है। आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है आर्य जनता इसका भी पूर्व भागों के समान ही स्वागत करेगी।

इस ग्रन्थ में कई टिप्पणियां ग्रन्थकार की हैं, कुछ हमारी हैं। हमने अपनी टिप्पणी के साथ 'यु० मी०' संकेत कर दिया है और हमने अपने टिप्पणी १, २, ३ संख्या का संकेत करके लिखी हैं। ग्रन्थकार की टिप्पणी * + आदि विविध चिन्हों से युक्त है।

कारकीय ग्रन्थ के लिखने, शोधने और प्रथम संस्करण के छपने से सम्बद्ध सम्पूर्ण वृत्त हम अपने 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' नामक बृहद् ग्रन्थ में लिख चुके हैं। उसे पाठक उसी ग्रन्थ में अवलोकन करें। पुनः लिखना पिष्टपेषणवत् होने से यहां नहीं लिखा।

विदुषांवशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

कारकीयान्तर्गत व्याख्यातानां सूत्रवार्तिकादीनां वर्णानुक्रमसूची

॥ ओ३म् ॥

अथ कारकीयः

अथोपक्रमः

(प्र०) कारक और कारकीय किसको कहते हैं।

(उ०) यत् करोति तत् कारकम्। जो करने हारा अर्थ है वह कारक कहाता है और इस ग्रन्थ में इसका व्याख्यान है, इसलिये इसको कारकीय कहते हैं।

(प्र०) कारक कितने प्रकार के होते हैं।

(उ०) आठ—कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, शेष[1] अधिकरण और हेतु। इनमें से—

कर्त्ता उसको कहते हैं कि जो पदार्थ, सकल साधनयुक्त होके स्वतन्त्रता से सब क्रियाओं को करे। जैसे—देवदत्त पठति, आकाशो वर्तते, इत्यादि। यहां विद्या पठन क्रिया का कर्त्ता देवदत्त † और वर्तमान क्रिया का आकाश है।

---

1 वस्तुत शेष की गणना कारक में नहीं होती, परन्तु हिन्दी भाषा के व्याकरण में इसे कारक कहा है। उसी के अनुसार यहां लिखा है। यु० मी०]

† स्वतन्त्रः कर्त्ता [अ० १ । ४ । ५५] इससे यहां कर्ता संज्ञा होती है। सब कारकों में एकवचन के उदाहरणों से पृथक् द्विवचन बहुवचन के प्रयोग भी जान लेना।

कर्म उसको कहते हैं कि जो किया जाय। इसके तीन भेद हैं—ईप्सिततम, अनीप्सितयुक्त और अकथित। ईप्सिततम कर्म उसको कहते हैं जिसको अत्यन्त अभीष्ट जान के करें। जैसे—सुखमिच्छति, भोजनं करोति, ओदनं पचति, ग्रामं गच्छति, इत्यादि। यहां सुख होने की इच्छा, भोजन का करना, चावल का पकाना, और ग्राम को जाना किसी विशेष प्रयोजन के लिये अत्यन्त अभीष्ट होने से ईप्सिततम कर्म कहाता है। अनीप्सितयुक्त कर्म उसको कहते हैं कि जिसकी इच्छा तो न हो परन्तु संयोग होने से किया ही जावे। जैसे—देवदत्तो ग्रामं गच्छन् चोरान् पश्यति, कण्टकानुल्लङ्घयति, इत्यादि। यहां चोरों को देखने और कांटों में चलने की इच्छा तो किसी को नहीं होती, परन्तु संयोग से चोरों को देखना और कांटों उल्लङ्घन करना अवश्य होता है। अकथित कर्म उसको कहते हैं कि जिसका किसी गौण † भाव से निमित्त करके ईप्सिततम के साथ योग हो। जैसे—गां दोग्धि पयः, माणवकं पन्थानं पृच्छति, इत्यादि ‡ यहां लड़के को पूछने रूप निमित्त के विना मार्ग का ज्ञान और गाय का दोहनरूप निमित्त के विना दूध की प्राप्ति नहीं हो सकती, परन्तु इस पृच्छति क्रिया के साथ लड़के और दोग्धि क्रिया के साथ साक्षात् गाय का सम्बन्ध नहीं है किन्तु पन्था और दूध का है।

करण उस को कहते हैं जिस से कर्ता अपने कर्तव्य कर्म को कर सके। इस के दो भेद हैं गौण और मुख्य। गौण करण उस को

---

† ईप्सिततम मुख्यकर्म और अकथित गौण कहाता है और मुख्यकर्म के विना गौण किसी वाक्य में नहीं आता।

‡ यहां दूध का निमित्त गौ और मार्ग का बालक गौणकर्म तथा दूध और मार्ग मुख्य कर्म हैं।

कहते हैं कि जो साधारणता क्रिया कि सिद्धि का निमित्त हो। जैसे—हस्ताभ्या फूत्कारादिनाग्निः प्रज्वलति, इत्यादि। यहां अग्नि की जलन क्रिया का निमित्त हाथ और फूंकनादि क्रिया हैं। मुख्य करण कारक उसको कहते हैं कि साक्षात् सम्बन्ध से कर्तव्य कर्म की सिद्धि में यथावत् उपयुक्त हो, जिसके विना वह कर्म कभी न हो सके। जैसे—इन्धनैरग्निः प्रज्वलति, अग्निनौदनं पचति, इत्यादि। यहां अग्नि को जलाने में इन्धन और चावल के पकाने में अग्नि ही मुख्य साधक है।

संप्रदान उस को कहते हैं जिस का अभीष्ट सिद्ध किया जाय। जैसे—विद्यार्थिने विद्या ददाति, अध्यापकाय धनं प्रयच्छति, अतिथयेऽन्नादिक ददाति, इत्यादि। यहा विद्यादान कर्म से विद्यार्थी, धनदान क्रिया से आचार्य और अन्नादि पदार्थ के देने से अतिथि का अभीष्ट सिद्ध किया जाता है, इसलिये ये संप्रदान हैं।

अपादान उसको कहते हैं कि जहां प्राप्त का त्याग और अप्राप्त देश की प्राप्ति की जाय। जैसे—गृहादागच्छति गच्छति वा, गुरुकुलादागच्छति गच्छति वा, ग्रामादागच्छति गच्छति वा ❀, इत्यादि। यहा पढने के लिये प्राप्त घर को छोड़ कर अप्राप्त पाठशाला और पूर्णविद्या पढ के गुरुकुलनिवासरूप देश को छोड़ कर जन्मभूमि को प्राप्त होना प्रयोजन है, किन्तु छोड़ने रूप क्रिया के कर्म की अपादान

❀ यहां ग्रामादागच्छति, ग्रामादागच्छत., ग्रामादागच्छन्ति, इत्यादि सब वचन और तीनों पुरुष के प्रयोग होते हैं क्योंकि एक स्थान से एक और अनेक का भी आना सम्भव है। और कई स्थानों से एक पुरुष का आना नहीं बनता इसी कारण अपादानसंज्ञक शब्द में सब वचन नहीं होते और जहां अनेक स्थानों से अनेकों का आना होगा वहां अपादान में भी सब वचन होंगे। ग्रामाभ्यामागच्छत, ग्रामेभ्य आगच्छन्ति इत्यादि।

संज्ञा है, अर्थात् जिसका वियोग कर दूसरे को प्राप्त होना होता है।

शेष कारक उसको कहते हैं कि जो अर्थ अपादानादि सञ्ज्ञाओं से गृहीत न हो। जैसे—यस्य प्रशस्तभाग्यशालिनो यज्ञदत्तस्य पुत्रः पठति। यहां पठनक्रिया के कर्ता पुत्र का सम्बन्धी यज्ञदत्त पिता है जिस का पुत्र पढ़े वह भाग्यशाली है। वेदस्य मन्त्रस्यार्थं जानाति। वेद के मन्त्र के अर्थ को जानता है। यहां मन्त्र का वेद और अर्थ का शेष मन्त्र है। अयसः कुठारेण वृक्षं छिनत्ति। लोह के कुल्हाड़े से वृक्ष को काटता है यहां लोहा कुल्हाड़े का शेषार्थ है। आप्तस्याऽव्यापकस्य विद्यार्थिने ददाति। निष्कपट सत्यवादी पूर्णविद्यावान् पढ़ानेहारे पण्डित के विद्यार्थी को देता है। यहां विद्यार्थी का शेष पढ़ाने हारा है। राज्ञो ग्रामादागच्छति। राजा के ग्राम से आता है। यहां ग्राम का शेष कारक राजा है। राज्ञः पुरुषस्य पुत्रो दर्शनीयोऽस्ति। राजा के पुरुष का पुत्र देखने में सुन्दर है। गुरोः कुले निवसति। विद्यार्थी पढ़ने के लिये गुरु के कुल में निवास करता है। यहां अधिकरण कारक कुल शब्द का शेष गुरु है। राज्ञो मन्त्री देवदत्तं ग्रामं गमयति, इत्यादि। राजा का मन्त्री देवदत्त को ग्राम में भेजता है। यहां हेतु कारक मन्त्री का शेष राजा है। इसी प्रकार शेष कारक को सब से बड़ा जानो, क्योंकि यह सब के साथ व्यापक रहता है। इसके विना कोई कारक नहीं रहता, चाहे शेष का प्रयोग हो वा न हो।

अधिकरण उसको कहते हैं कि जो आधेय का आधार रूप अर्थ हो। सो तीन प्रकार का होता है। तद्यथा—

अधिकरणं नाम त्रिः प्रकारकं भवति। व्यापकमौपश्लेषिकं वैषयिकमिति महा० अ० ६। पा० १ सू० ७२। व्यापक, औपश्लेषिक, वैषयिक। व्यापक अधिकरण उस को कहते हैं कि जिसका योग सब व्यक्ति और अवयवों में रहे, जैसे-दिक्काला-

काशेषु सर्वे पदार्थाः सन्ति, ईश्वरे सर्वं जगद् वर्तते, ※ इत्यादि। दिशा, काल और आकाश में सब पदार्थ रहते और सब जगत् ईश्वर में है। औपश्लेषिक उस को कहते हैं जहां आधार और आधेय का संयोग हो, जैसे—खट्वायां शेते, गृहे निवसति, इत्यादि। यहां खाट और सोने वाले और घर तथा घर में रहने वाले का स्पर्शमात्र संयोग है। वैषयिक उसको कहते हैं कि जिस में जो रहे, जैसे—धर्मे प्रतिष्ठते, विद्यायां यतते †, इत्यादि। मनुष्य की धर्म में वर्तने से प्रतिष्ठा और जो विद्या में यत्न करता है वह ज्ञानी होता है।

हेतु कारक उसको कहते हैं कि जो अर्थ क्रिया करने हारे का प्रेरक हो। जैसे—देवदत्तो विद्यामधीते, गुरुरेनं विद्यामध्यापयति, विचक्षणो धर्मं करोति, उपदेष्टैनं धर्मं कारयति, इत्यादि। यहां पढ़ने हारे विद्यार्थी के पढ़ने के लिये प्रेरक गुरु और धर्म के करने हारे चतुर पुरुष को धर्म कराने हारा उपदेशक है। और इसमें इतना विशेष समझना चाहिये कि साक्षात् करने हारे की कर्तृ कारक संज्ञा और प्रेरणा करने हारे की हेतु संज्ञा है।

(प्र०) वाक्य किसको कहते हैं।

(उ०) आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्[1]। सविशेषणमेकतिङ् वा[2]। जो आख्यात अव्यय, कारक और विशेषण-

---

※ जैसे—तिलेषु तैलम्, दधनि घृतम्, इत्यादि भी व्यापक अधिकरण में गिने जाते हैं, क्योंकि तिलों के सब अवयवों में तेल और दही के सब अवयवों में घृत व्यापक है। दिशा आदि के उदाहरण सामान्य और ये तिलादि के विशेष हैं।

† प्रतिष्ठा का विषय धर्म और विद्या प्रयत्न का विषय है।

१. महाभाष्य २।१।१॥ २. महा० २।१।१॥ वहां "सक्रियाविशेषणं च, एकतिङ्" ऐसा पाठ है। किन्हीं के मत में "आख्यातं सविशेषणम्" इतना ही लक्षण वाक्य का है। यु० मी०।

युक्त हो सो वाक्य कहाता है। साव्यय जैसे—देवदत्त उच्चैः पठति, इत्यादि। देवदत्त ऊंचे स्वर से पढ़ता है। सकारक-मनुष्यो धर्ममाचरेत्, इत्यादि। मनुष्य धर्माचरण करे। सविशेषण—बुद्धिमान्देवदत्त ऋजु पठति, इत्यादि। बुद्धिमान् देवदत्त कोमलता से पढ़ता है। अथवा जिसमें विशेषण युक्त एक तिङन्त पद हो वह वाक्य कहाता है इसी के पूर्वोक्त उदाहरण-देवदत्त उच्चैः पठति, इत्यादि जानो।

(प्र०) वाक्य के कौन से प्रयोजन हैं।

(उ०) अनेक अर्थ की प्रतीति और व्यवहार में प्रवृत्ति आदि हैं, क्योंकि—अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः। अर्थं प्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते ॥ महाभाष्य ॥ अ० १। पा० १। सू० ४४। आ० ७। अर्थ के जानने के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है। वक्तुं योग्यं पदसमुदायं वाक्यम्—जो कहने को योग्य हो, जिसमें अनेक पदों का योग हो वह वाक्य कहाता है। जब तक कोई किसी को वाक्य बोल के अर्थ का बोध नहीं कराता तब तक उसका प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं होती और जब तक व्यवहार ठीक २ नहीं होता तब तक उसका कार्य सिद्ध होकर सुखप्राप्ति रूप प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता। इसलिये वाक्य और वाक्यार्थ का बोध करना सब मनुष्यों को अवश्य उचित है।

(प्र०) वाक्यार्थ बोध में कितने कारण हैं।

(उ०) चार—आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य। आकांक्षा * उस को कहते हैं कि वाक्य में जिन पदों का प्रयोग है उनके साथ जिन अप्रयुक्त पदों का अवश्य सम्बन्ध करना हो।

---

* इन के बिना कोई भी वाक्य नहीं होता और न इनके जाने बिना और ग्रन्थ के वाक्यों के सत्य २ अभिप्राय का बोध किसी को हो सकता है।

जैसे—अनुतिष्ठत, यहां अनुतिष्ठत इस क्रिया पद के साथ यूयं और धर्मं इन दो पदों, और "यूयमधर्मम्" इस वाक्य में संत्यजत † इस क्रिया पद की आकाङ्क्षा अवश्य है, क्योंकि इनके विना वाक्य की पूर्त्ति कभी नहीं हो सकती। तथा अनाकाङ्क्षा उस को कहते हैं कि जिस वाक्य में सब योग्य पदों का प्रयोग हो जैसे—यूयं धर्ममनुतिष्ठत, यूयमधर्मं संत्यजत, इत्यादि उदाहरण समझ लेना।

योग्यता उस को कहते हैं कि जो पद जिसके साथ प्रयोग करने योग्य हो वा जिस से जो कार्य सिद्ध होता हो उन्हीं का प्रयोग करना। जैसे—चक्षुषा पश्यति, श्रोत्रेण शृणोति, जलेन सिञ्चति, अग्निना दहति, इत्यादि। मनुष्य आंखों से देखता, कान से सुनता, जल से सींचता और अग्नि से जलाता है। यहां वाक्यार्थ की योग्यता है। और "कर्णेन पश्यति, हस्तेन शृणोति, अग्निना सिञ्चति, जलेन दहति" इत्यादि में वाक्यार्थ की योग्यता नहीं है क्योंकि कान से देखने, हाथ से सुनने, आग से सींचने और जल से जलाने का कभी संभव नहीं हो सकता। [इसलिये ये वाक्य नहीं कहाते]

आसत्ति उस को कहते हैं कि जिस पद की जिसके साथ योग्यता हो उस को उसी के साथ बोलना। जैसे—हे देवदत्त त्वमिति कंचित्प्रति प्रातरुक्त्वा सायंकाले ब्रूयाद् ग्रामं गच्छेति। कोई किसी से प्रातःकाल "हे देवदत्त तू" ऐसा कह कर चुपचाप रहे पश्चात् सायंकाल में कहे कि "ग्राम को जा"। यहां चार पहर के विलम्ब होने से इसका वाक्यार्थ बोध किसी को नहीं हो सकता, क्योंकि पदों का अभिसंबन्ध निकट नहीं है। और जैसे—हे देवदत्त

† वाक्य का लक्षण तिङ् के विना नहीं किया, इस कारण इसको शुद्ध वाक्य नहीं कह सकते, किन्तु आकांक्षित वाक्य कहावेगा।

एवं ग्रामं गच्छ, इत्यादि वाक्य अर्थबोधक हो सकते हैं, क्योंकि यहां कर्ता कर्म और क्रिया का उच्चारण एक समय में समीपस्थ है।

तात्पर्य उस को कहते हैं कि वक्ता जिस अभिप्राय के जनाने के लिये वाक्य बोले, उसी के अनुकूल दूसरे को समझना उचित है। जैसे किसी ने कहा कि "मह्यं देहि, अत्रादातव्यमेव दद्यादिति वेदितव्यम्" जैसे किसी ने किसी से कहा कि आप मुझ को कुछ दीजिये, यहां ग्रहण करने के योग्य पदार्थों का मिलना वक्ता का प्रयोजन है। ऐसा न समझना कि "अयं दुःखदायिवस्तुयाचक इत्यस्य तात्पर्यार्थः" पूर्व वाक्य में कोई ऐसा समझे यह मुझ से दुःखदायक पदार्थों को चाहता है, ऐसा समझना उसके तात्पर्यार्थ से विरुद्ध है। इसलिये इन सब को वाक्य बोध के कारण अवश्य जानने चाहियें॥

॥ इत्युपक्रमः ॥

१–कारके ॥ अ० १ । ४ । २३ ॥

संज्ञाधिकार के बीच पढ़ने और आगे आगे सूत्रों में इसकी अनुवृत्ति होने से यह [संज्ञा और] अधिकार सूत्र है। इस से जहां-जहां स्वतन्त्र आदि कर्ता आदि की संज्ञा की जावेगी वहां सर्वत्र कारक शब्द का अधिकार समझा जावेगा। क्रिया और द्रव्य का संयोग होने पर क्रिया की सिद्धि करने वाले को कारक कहते हैं।

१–[कर्तृकारक]

२–स्वतन्त्रः कर्ता ॥ अ० १ । ४ । ५४ ॥

"स्व" आप "तन्त्र" प्रधान। स्वतन्त्र जो आप ही क्रिया के करने में प्रधान हो उस की कर्तृकारक संज्ञा है।

३–तत्प्रयोजको हेतुश्च ॥ अ० १ । ४ । ५५ ॥

जो स्वतंत्र को प्रेरणा करने वाला हो, उस की हेतु और कर्ता दोनों संज्ञा होती हैं।

* ४–प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा ॥ अ० २ । ३ । ४६ ॥

जो जिस अर्थ के साथ समर्थ होता है उस को प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। इस के अर्थमात्र, लिङ्ग अर्थात् स्त्री, पुरुष, नपुंसकमात्र, परिमाण अर्थात् तोल मात्र और वचन–एक, दो, बहुत मात्र, इन अर्थों में प्रथमा विभक्ति होती है। इसी सूत्र के भाष्य में लिखा है कि—"तिङ्समानाधिकरणे प्रथमेत्येतल्लक्षणं करिष्यते" अस्ति भवति आदि तिङन्त क्रियाओं के साथ जिस का समानाधिकरण हो (अर्थात् जो उक्त, कथित और अभिहित है) उस में प्रथमा विभक्ति होती है[1]। इस से भिन्न कारकों में द्वितीयादि होती हैं सो

---

* यहां प्रातिपदिकार्थ उस को कहते हैं कि जो उस शब्द की सत्तामात्र हो और अर्थ के साथ शब्द का विशेष सम्बन्ध होता है, इसलिये लिङ्ग आदि का ग्रहण है। जैसे—पुमान्। इस शब्द में जो पुरुष व्यक्ति के साथ सामान्य सम्बन्ध है वही प्रातिपदिकार्थ है और पुरुषपन अर्थात् स्त्री से अलग होना है यह प्रातिपदिकार्थ नहीं है किन्तु लिङ्ग है।

१ विभक्ति विधायक प्रकरण में 'अनभिहिते' (का० १) का अधिकार है। अतः जिस कर्ता का कर्तृत्व 'तिङ्' आदि से अभिहित नहीं होता वहां कारकीय ४०वें सूत्र से तृतीया विभक्ति होती है। जहां कर्तृत्व अर्थ तिङ् आदि से कह दिया जाता है अर्थात् कर्ता अर्थ में तिङ्प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है (देखो व्याख्या० ५) वहां प्रतिपादिकार्थ मात्र के शेष रहने से इस (कार० ४) सूत्र से प्रथमा विभक्ति

आगे कहेंगे। कर्ता और हेतु कारक के उदाहरण प्रातिपदिकार्थमात्र में–देवदत्तो ग्रामं गच्छति, यज्ञदत्तो देवदत्तं ग्रामं गमयति, देवदत्त ओदनं पचति, यज्ञदत्तो देवदत्तेनौदनं पाचयति, इत्यादि। यहां गच्छति, पचति क्रिया के करने में देवदत्त स्वतन्त्र होने से कर्ता और यज्ञदत्त की प्रेरणा का कर्म है उस का इन्हीं क्रियाओं के साथ समानाधिकरण होने से उस में प्रथमा विभक्ति होती है। तथा [प्रातिपदिक के] अर्थ मात्र के कहने से उच्चैः, नीचैः, इत्यादि में भी प्रथमा विभक्ति हो जावे। लिङ्गमात्र मे–कुमारी–यहां जो प्रातिपदिकार्थ बालक प्रथमा अवस्था है उससे स्त्रीत्व पृथक् है इसलिये प्रातिपदिक [अर्थ मात्र में] प्राप्त नहीं थी। पुल्लिङ्ग–वृक्षः। वृक्ष एक ❀ जाति है, यहां जो जातित्वमात्र प्रातिपदिकार्थ है वह पुल्लिङ्ग व्यक्ति से पृथक् है। नपुंसक–कुलम्। यहां भी नपुंसकपन प्रातिपदिकार्थ जो जनसमुदाय है उससे पृथक् है। परिमाणमात्र में–द्रोणः, खारी, आढकम्। इन तोल के वाची शब्दों में प्रथमा होती है †। वचनमात्र

होती है। वस्तुत यहां कर्ता में तृतीया विभक्ति निदर्शक "कर्तृकरणयोस्तृतीया" (का० ५०) सूत्र उद्धृत करना चाहिये था, परन्तु व्यवहार में प्रायः कर्तृवाचक तिङन्त का प्रयोग होता है और वहां तिङ् द्वारा कर्तृत्व के अभिहित होने से प्रथमा विभक्ति होती है अतएव यहां प्रथमा विभक्ति विधायक सूत्र उद्धृत किया है। यु० मी०।

❀ एक शब्द के उच्चारण से सामान्य अर्थात् असंख्य व्यक्तियों का बोध होना जाति कहाती है। सो वृक्ष शब्द के उच्चारण से व्यक्ति, आकृति और जाति तीनों का बोध होता है। लिङ्गार्थ इन तीनों से पृथक् है।

† तोलन साधक द्रोण आदि धान्य, घृत आदि मेय अर्थात् परिमाण विषयों के सम्बन्ध में मान अर्थात् इयत्ताकरणार्थ होने से प्रातिपदिकार्थ से पृथक् है इसलिये इनका ग्रहण है।

में—एकः, द्वौ, बहवः। यहां जो एक दो और बहुत संख्यात्व है वह प्रातिपदिकार्थ से पृथक् है। यहां मात्र ग्रहण इसलिये है कि इससे भिन्न अन्यत्र कर्मादि के विषय में प्रथमा न हो।

२-[कर्मकारक]

५-कर्तुरीप्सिततमं कर्म ॥ अ० १। ४। ४९ ॥

जो बहुत कारकों से युक्त वाक्य के बीच में कर्त्ता को अत्यन्त इष्ट कारक है, वह कर्म संज्ञक होता है। इस का फल—

६-अनभिहिते ॥ अ० २। ३। १ ॥

यह अधिकार विभक्तिविधान प्रकरण में है। अभिहित उसको कहते हैं कि जिस से लकारादिप्रत्ययान्त क्रियाओं का समानाधिकरण होवे। और जिसमें लकरादि प्रत्ययों का समानाधिकरण न हो उस को अनभिहित, अनुक्त और अकथित भी कहते हैं। इस के आगे जो जो विभक्तिविधानप्रकरण के सूत्र लिखे जावेंगे, उन सब में यही अधिकार समझा जावेगा। और संज्ञाप्रकरण का अधिकार लिख चुके हैं।

७-कर्मणि द्वितीया ॥ अ० २। ३। २ ॥

अनभिहित कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति हो। ग्रामं गच्छति, वेदं पठति यज्ञं करोति। यहां ग्राम का जाना, वेद का पढ़ना और यज्ञ का करना अत्यन्त इष्ट है * इसलिये ग्राम वेद और यज्ञ की कर्म संज्ञा हो के द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार सर्वत्र

* जो पदार्थ अत्यन्त इष्ट नहीं होता उस की सिद्धि के लिये शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि आदि की यथार्थ प्रवृत्ति नहीं होती, फिर उस की कर्म संज्ञा भी नहीं हो सकती।

जानना। अनभिहित का प्रयोजन यह है कि "पाठ्यो वेदः" यहां वेद शब्द के अभिहित[1] होने से द्वितीया न हुई।

* ८-वा०-समया निकषा हा प्रति योगेषूपसंख्यानम् ॥ २।३।२

समया निकषा हा प्रति इन चार अव्ययों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। समया ग्रामम्, निकषा ग्रामम्, हा देवदत्तम्, देवदत्तं प्रति। यहां सर्वत्र देवदत्त और ग्राम शब्द में द्वितीया विभक्ति हुई है।

९-वा०-अपर आह—

द्वितीयाऽभिधानेऽभितः परितः समया निकषाऽध्यधि धिग्योगेषूपसंख्यानम् ॥ २।३।२ ॥

समया और निकषा शब्द पूर्ववार्तिक में आ चुके हैं इन के उक्त उदाहरण जानने। अभितः परितः अध्यधि धिक् इन शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होवे। अभितो ग्रामम्, परितो ग्रामम्, अध्यधि ग्रामम्, धिग्जाल्मम्।

१०-का०-अपर आह—

उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥ २।३।२ ॥

---

१ यहां 'पाठ्य' का ण्यत् प्रत्यय "तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः" (अष्टा० ९१६) से कर्म अर्थ में होता है। अतः वेद का कर्मत्व अश कृत्य प्रत्यय द्वारा अभिहित अर्थात् कथित है। उसके अभिहित होने से द्वितीया नहीं हुई। यु० मी०।

* यहां अनभिहित कर्म नहीं है इसलिये यह द्वितीयाविभक्तिविधान प्रकरण बोधा है।

उभयतस् सर्वतस् धिक् उपर्युपरि अध्यधि अधोऽधो इन के योग में भी द्वितीया विभक्ति होवे। जैसे—उभयतो ग्रामम्, सर्वतो ग्रामम्। धिग्जाल्मम्, उपर्युपरि ग्रामम्, अध्यधि ग्रामम्, अधोऽधो ग्रामम्। और इन के योग से अन्यत्र जहां किसी सूत्र वार्तिक से द्वितीया विधान न हो वहां भी इसी कारिका के प्रमाण से होती है। जैसे—बुभुक्षितं न प्रति भाति किञ्चित्, इत्यादि। यहां प्रति के योग में द्वितीया हुई है।

११–तृतीया च होश्छन्दसि ॥ अ० २। ३। ३॥

वेद विषय में "हु" धातु के अनभिहित कर्मकारक में तृतीया और चकार से द्वितीया भी होती है। यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति, यवागूमग्निहोत्रं जुहोति। छन्द का ग्रहण इसलिये है कि "यवागूमग्निहोत्रं जुहोति" यहां लोक में तृतीया विभक्ति न हो।

१२–अन्तराऽन्तरेण युक्ते ॥ अ० २। ३। ४॥

अन्तरा, अन्तरेण इन दो अव्ययों के योग में द्वितीया विभक्ति हो *। अग्निमन्तरा कथं पचेत्, अग्निमन्तरेण कथं पचेत्।

१३–कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ॥ अ० २। ३। ५॥

अत्यन्त संयोग अर्थ में कालवाची और मार्गवाची शब्दों से द्वितीया विभक्ति होवे। मासमधीतोऽनुवाकः, क्रोशं कुटिला नदी †। यहां अत्यन्त संयोग ग्रहण इसलिये है कि "दिवसस्य द्विर्भुङ्क्ते" इत्यादि में द्वितीया न हो।

---

* यह द्वितीया विभक्ति का प्रकरण है और पूर्वसूत्र में तृतीया-विधान है, सो द्वितीया का ही अपवाद है। इसलिये यहां तृतीया की अनुवृत्ति नहीं आती, द्वितीया की ही आती है। और यह सूत्र अपूर्व विधायक है अर्थात् अन्तरा अन्तरेण इन अव्ययों के योग में किसी विभक्ति का विधान किसी सूत्र से नहीं है।

१४–अपवर्गे तृतीया ॥ अ० २ । ३ । ६ ॥

जो शुभ कर्म का समाप्ति है उसको अपवर्ग कहते हैं। इस अत्यन्त संयोग अर्थ में कालवाची और मार्गवाची शब्दों से तृतीया विभक्ति हो। मासेनाधीतोऽनुवाक, क्रोशेनाधीतोऽनुवाक. । यहां अपवर्ग ग्रहण इसलिये है कि "मासमधीतोऽनुवाको न चानेन गृहीत" इत्यादि स्थल में तृतीया न हो ‡।

१५–सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये ॥ अ० २ । ३ । ७ ।

जो अत्यन्त संयोग अर्थ में दो कारकों के बीच काल और मार्गवाची शब्द हों तो उनसे सप्तमी और पञ्चमी विभक्ति हों। अद्य भुक्त्वा द्व्यहाद् भोक्ता, द्व्यहे भोक्ता, इहस्थोऽयमिष्वासः देवदत्तो क्रोशाल्लक्ष्यं विध्यति, क्रोशे लक्ष्यं विध्यति इत्यादि ।

१६–गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि ॥ अ० २ । ३ । १२ ॥

जिस की चेष्टा क्रिया विदित होती हो, ऐसे गत्यर्थक धातुओं के मार्ग रहित अनभिहित कर्म में द्वितीया और चतुर्थी विभक्ति हों। ग्रामं गच्छति, ग्रामाय गच्छति, ग्राममेति, ग्रामायैति ❀। गत्यर्थक

---

† यहां अत्यन्त संयोग यह है कि महीने के बीच पढ़ने में कोई अनध्याय वा विक्षेप न हुआ, यह उस काल और पठनक्रिया का अत्यन्त संयोग है। कोश भर टेढ़ी नदी, यहां मार्ग और नदी का अत्यन्त संयोग है क्योंकि कोश भर में टेढ़ाई व्याप्त है।

‡ अर्थात् जहां एक महीने में पाठ के समाप्त कर दिया हो और अच्छी प्रकार जान लिया हो, वहीं हो।

❀ यहां अनभिहित कर्म में "कर्मणि द्वितीया" (का० ७) इससे द्वितीया ही पाती है, उसका यह अपवाद है।

धातुओं का ग्रहण इसलिये है कि "कटं करोति" यहां चतुर्थी न हो। कर्म ग्रहण इसलिये है कि "अश्वेन गच्छति" यहां करण में द्वितीया और चतुर्थी न हों। चेष्टा ग्रहण इसलिये है कि "मनसा गृहं गच्छति" यहां चेष्टा के न होने से चतुर्थी नहीं होती और अनध्वनि ग्रहण इसलिये है कि "अध्वानं गच्छति" यहां चतुर्थी न हो।

१७–वा०–अध्वन्यर्थग्रहणम् ॥ २ । ३ । १२ ॥

अध्व के पर्यायवाची शब्दों का भी निषेध में ग्रहण होना चाहिये। जैसे—अध्वानं गच्छति यहां चतुर्थी नहीं होती, वैसे ही "पन्थानं गच्छति" इत्यादि में भी चतुर्थी न हो।

१८–वा०–आस्थितप्रतिषेधश्च ॥ २ । ३ । १२ ॥

मार्गवाची मुख्य शब्दों का निषेध होना चाहिये। क्योंकि "उत्पथेन पन्थानं गच्छति, पथे गच्छति" † यहां चतुर्थी का निषेध न हो जावे।

अब कर्म संज्ञा में जो विशेष सूत्र वार्त्तिक तथा कारिका बाकी हैं, वे लिखते हैं। उन में कर्म संज्ञा होके प्रथम सूत्र से ही द्वितीया विभक्ति होती है।

१९–तथायुक्तं चानीप्सितम् ॥ अ० १ । ४ । ५० ॥

जिस प्रकार ईप्सिततम कारक की कर्म संज्ञा होती है वैसे ही जिसका अकस्मात् योग हो जाय तो उस अनीप्सित युक्त की भी कर्म संज्ञा हो। ग्रामं गच्छन् वृकान् पश्यति, तृणानि स्पृशति। ग्राम को जाता हुआ भेड़ियों को देखता और घास का स्पर्श करता जाता है। भेड़ियों का देखना तो अनिष्ट है और घास का स्पर्श होना इष्ट

† यहां मार्गवाची मुख्य शब्द यों नहीं है कि ऊबड़खाबड़ मार्ग से शुद्ध मार्ग के लिये जाता है। शुद्ध मार्ग का चलना नहीं है।

अनिष्ट दोनों ही नहीं। इष्ट केवल ग्राम का जाना है सो उसकी कर्म संज्ञा पूर्वसूत्र से हो गई। यहां भेड़िया और घास की कर्म संज्ञा हो जाने से द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

२०—अकथितं च ॥ अ० १ । ४ । ५१ ॥

अपादान आदि सब कारकों में जिस की कोई संज्ञा न की हो उसको अकथित कहते हैं। उस अकथित की भी कर्म संज्ञा हो जावे। जैसे—अजां नयति ग्रामम्, भारं वहति ग्रामम्। यहां अजा और भार शब्द की तो कर्म संज्ञा "कर्त्तुरी०" [कार० ५] इस उक्त सूत्र से सिद्ध ही है। ग्राम शब्द में किसी कारक संज्ञा की प्राप्ति नहीं थी, इस से उसको इस सूत्र से कर्म संज्ञा हो के *द्वितीया* होती है। जो इस सूत्र का व्याख्यान महाभाष्यकार ने किया है सो लिखते हैं—

२१—का०—दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्त-
मपूर्वविधौ । ब्रुविशासिगुणेन च यत् सचते तद-
कीर्तिमाचरितं कविना ॥ १ । ४ । ५१ ॥

इस कारिका से सूत्र का प्रयोजन दिखलाया है। दुह, याच, रुध, प्रच्छ, भिक्ष, चिञ्, ब्रूञ् और शासु इन धातुओं के योग में उपयोग * का जो निमित्त हो, उसकी अपूर्वविधि अर्थात् जिसका

* उपयोग उसको कहते हैं कि जिसका क्रिया के साथ मुख्य सम्बन्ध हो और उसका निमित्त वह है कि जिसके बिना उसकी सिद्धि न हो। जैसे—पौरवं गां याचते। यहां गौ तो उपयोगी कर्म है वह ईप्सिततम होने से पूर्व सूत्र से कर्म संज्ञक हो जाता और इसी कर्म का याचन क्रिया के साथ मुख्य सम्बन्ध है और पौरव जो दाता पुरुष है वही इस गौ का निमित्त है उसके बिना गौ नहीं मिल सकती। इसलिये पौरव अकथित कर्म है उसकी कर्म संज्ञा इस सूत्र से होती है।

विधान पूर्व अपादान आदि कारकों में कुछ भी न किया हो तो इस सूत्र से कर्म संज्ञा हो। जैसे–गां दोग्धि पयः, याच–पौरवं गां याचते, रुध–गामवरुणद्धि व्रजम्, प्रच्छ–माणवकं पन्थानं पृच्छते, भिक्ष–पौरवं गां भिक्षते, चित्र–वृक्षमवचिनोति फलानि, ब्रूञ्–पुत्रं धर्मं ब्रूते, शासु–सन्तानं धर्मं शास्ति।

(प्रश्न) जहां कर्म कारक में लकारादि प्रत्ययों का विधान है, वे जहां दो कर्म हों वहां किस कर्म में होने चाहियें।

(उत्तर)-२२–का०–कथिते लादयश्चेत्स्युः षष्ठीं कुर्यात्तदा गुणे।
अकारकं ह्यकथितात्कारकं चेत्तु नाकथा ॥१।४।५१॥

विचार करते हैं कि जो कथित प्रधान कर्म में लकारादि प्रत्यय किये जावें तो गौण अर्थात् अकथित कर्म में षष्ठी विभक्ति होनी चाहिये। जैसे–दुह्यते गोः पयः, याच्यते पौरवस्य कम्बलः। क्योंकि जो अकथित है वह कारक नहीं, किन्तु जो कथित है वही कारक है। जिस जिस में लकारादि प्रत्यय होते हैं उस उस कथित कर्म में प्रथमा विभक्ति होती है और जो अकथित है कि जिस में किसी विभक्ति की प्राप्ति नहीं, उस के शेष होने से वहां षष्ठी हो जाती है।

२३–का०–कारकं चेद्विजानीयाद्यां यां मन्येत सा भवेत्
॥ १ । ४ । ५१ ॥

और जिसको अकथित जानते हो उसको जो कारक जानो तो जिस जिस कारक संज्ञा में उसकी प्रवृत्ति हो सकती हो, वही विभक्ति उसमें करनी चाहिये। जो उस अकथित की अपादान संज्ञा हो सकती हो तो वहां पञ्चमी विभक्ति करनी चाहिये। जैसे–दुह्यते गोः पयः, याच्यते पौरवात् कम्बलः।

पूर्वकारिका से जो कथित कर्म में लकारादि प्रत्ययों का विधान

किया सो किसी किसी आचार्य का मत है। अब तीसरी कारिका से पाणिनिजी का मत दिखलाते हैं—

२४—का०—कथितेऽभिहिते त्वविधिस्त्वमतिर्गुणकर्मणि लादिविधिः सपरे। ध्रुवचेष्टितयुक्तिषु चाप्यगुणे तदनल्पमतेर्वचनं स्मरत॥ २४॥

जो कथित कर्म में लकारादि प्रत्यय होते हैं यह तुम्हारी बुद्धि से तुमने विधान किया है ॐ। परन्तु पाणिनीजी के मत से तो गौण अर्थात् अकथित कर्म में लकारादि प्रत्यय होने चाहियें। इसी प्रकार—"गतिबुद्धि०" इस आगे के सूत्र में [भी] गौण कर्म में लकारादि प्रत्यय होते हैं। गौर्दुह्यते पयः, गौर्दोग्धव्या पयः, गौर्दुग्धा पयः, गौः सुदोहा पयः, इत्यादि। जहां अप्रधान गौ कर्म में लकारादि प्रत्यय होते हैं वहां अभिहित होने से प्रथमा और पयः के अनभिहित होने से द्वितीया विभक्ति होती है। तथा (ध्रुवयुक्ति) अकर्मक और (चेष्टितयुक्ति) गत्यर्थक धातुओं के (अगुणे) [मुख्य अर्थात्] कथित कर्म में लकारादि प्रत्यय होने चाहिये। जैसे—अकर्मक—आसितव्यो देवदत्तो यज्ञदत्तेन, गत्यर्थक—अजा नेतव्या ग्रामम्। महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि कहते हैं कि हे वैयाकरण लोगो! अगाध बुद्धि वाले पाणिनि आचार्य का यह मत है, तुम लोग जानो। अब जो मत अन्य बहुत आचार्यों का है, सो चौथी कारिका से दिखाते हैं—

२५—का०—प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्।
अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः॥
१। ४। ५१॥

ॐ यह सङ्केत उन लोगों की ओर है कि जिनका मत प्रथम कारिका से कथित कर्म में लकारादि प्रत्ययों का होना दिखलाया है।

जो द्विकर्मक धातु हैं उनके प्रधान = कथित कर्म में लकारादि प्रत्यय होने चाहिये । जैसे—अजां नयति ग्रामम्, अजा नीयते ग्रामम्, अजा नीता ग्रामम् । यहां प्रधान कथित अजा कर्म है, उस में लकारादि के होने से प्रथमा विभक्ति और ग्राम में अनभिहित होने से द्वितीया होती है । तथा दुहादि अर्थात् जो धातु प्रथम कारिका में गिनाये हैं उन के अकथित अर्थात् गौण कर्म में लकारादि प्रत्यय होने चाहियें । इस के उदाहरण दे चुके हैं । और एयन्तावस्था में जिन धातुओं के जिस कर्त्ता की कर्म संज्ञा होती है, उन के उसी कर्म में लकारादि प्रत्यय होने चाहिये । जैसे—यज्ञदत्तो गच्छति ग्रामम् । यहां यज्ञदत्त गमधातु का प्रथम स्वतन्त्र कर्ता और ग्राम कर्म है । जब उस का एयन्तावस्था में प्रयोजक कर्ता देवदत्त होता है तब यज्ञदत्त की कर्म संज्ञा हो जाती है । देवदत्तो यज्ञदत्तं ग्रामं गमयति । यहां अप्रधान यज्ञदत्त है उसी में लकार होने से—देवदत्तेन यज्ञदत्तो ग्राम गम्यते । यहां गौण कम यज्ञदत्त में प्रथमा विभक्ति होती है और ग्राम में द्वितीया हो जाती है । यह चौथी कारिका से जो लकारादि प्रत्यय विधान में व्यवस्था की है सो बहुत ऋषि लोगों का सिद्धान्त है । इससे यही व्यवस्था सब से बलवान् है ।

जो प्रथम कारिका में कहे हैं, उन से भिन्न द्विकर्मक धातु कितने हैं सो पांचवीं कारिका से दिखाते हैं ।

२६—का०—नीवह्योर्हरतेश्चाऽपि गत्यर्थानां तथैव च ।
द्विकर्मकेषु ग्रहणं द्रष्टव्यमिति निश्चयः ॥१।४।५१॥

नी, वहि, हरति और एयन्तावस्था में जिनका कर्ता कर्म होता है, वे सब द्विकर्मकों में गिने जाते हैं । अकर्मक धातु सकर्मक कैसे होते हैं, यह विषय छठी कारिका से दिखाते हैं—

२७–का०–कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम् ॥ १ । ४ । ५१ ॥

[अकर्मक धातुओं के] काल = क्षण आदि, भाव※ = होना, अध्वगन्तव्य = चलने योग्य मार्ग, ये तीनों कर्म हो जाते हैं। जैसे काल–मासमास्ते, मासं स्वपिति। अमुक एक मास बैठा रहता है और एक मास सोता है, यहां महीना कर्म हो गया। प्रयोजन यह है कि एक महीना बैठ के काटता है और एक महीना सोके काटता है तो बैठने और सोने का कर्म महीना हो गया। भाव–गोदोहमास्ते, गोदोहं स्वपिति। यहां गौ का जो दोहना भाव है वही उसके बैठने और सोने का कर्म है। अध्वगन्तव्य–क्रोशमास्ते, क्रोशं स्वपिति। सवारी में बैठ के मार्ग में चलता हुआ मनुष्य कोश भर बैठा, कोश भर सोया। अर्थात् जो दो कोश बैठने और सोने में मार्ग व्यतीत किया वही बैठने सोने का कर्म हो गया है।

२८–वा०–देशश्चाकर्मणां कर्मसंज्ञो भवतीति वक्तव्यम् ॥ १ । ४ । ५१ ॥

इस वार्तिक से अकर्मक धातुओं का देश भी कर्म सञ्ज्ञक होता है। जैसे–पञ्चालान् स्वपिति। कोई विमान आदि यान में बैठा हुआ

※ यहां भावं = भवनं = भूतिं भवति देवदत्तः। जैसे भावाभावी भाव आदि शब्द भवति-क्रिया के कर्म होने से भू धातु सकर्मक हो जाता है वैसे सब अकर्मक धातुओं की व्यवस्था जाननी। देवदत्त एधनमेधते, इत्यादि। यहां। कृदभिहितो भावो द्रव्यवद्भवति ॥ महाभाष्य अ० ३। पा० १। सू० ६६। कहा है कि जो तव्यदादि प्रत्ययों से कथित भाव है वह द्रव्य के समान होता है॥

पंजाब[1] देश भर सोता ही चला गया। उसके सोने का कर्म पंजाब देश हो गया।

२६—का०—विपरीतं तु यत् कर्म तत्कल्म कवयो विदुः ॥ १।४।५१ ॥

ईप्सिततम कर्म से भिन्न जो कर्म है उस को विद्वान् लोग कल्म कहते हैं। जिस के बीच में कर्म संज्ञा के सब काम नहीं किये जाते किन्तु केवल द्वितीया विभक्तिमात्र ही की जाती है तथा जिस किसी में अन्य भी कर्मसंज्ञा के कार्य होते हों उस से जो दूसरा होता है वह विपरीत कर्म कहाता है, उसी को कल्म कहते हैं जैसे—भारं वहति ग्रामम्, यहां प्रधान जो भार कर्म है उस में तो कर्म के सब कार्य होते हैं और ग्राम शब्द में केवल द्वितीया विभक्ति होती है। इस से इस की कल्म संज्ञा है। [तथा "गां दोग्धि पयः" यहां प्रधान कर्म तो पय है परन्तु लकारादि प्रत्यय विधान कर्म संज्ञा के कार्य हैं। वे गो शब्द में किये जाते हैं। इस से यहां पय शब्द की कल्म संज्ञा है][2]। यहां विशेष कल्म संज्ञा रखने के लिये कर्म शब्द के रेफ को लकारादेश "संज्ञा छन्दसो"[3] इस वार्तिक से संज्ञा मान के किया है।

---

१. वस्तुतः पञ्चाल नाम पंजाब का नहीं है। यह देश गंगा के पूर्व में उत्तर से दक्षिण तक विस्तृत था। यु० मी०।

२. हमारा विचार है उपर्युक्त कोष्ठान्तर्गत व्याख्या ठीक नहीं है। कल्म संज्ञा उसी आचार्य ने की है, जिसके मत में क्रमाङ्क २२ की कारिका से प्रधान कर्म में लकारादि का विधान किया है और अप्रधान कर्म में नहीं। अतः कल्म संज्ञा बनाने वाले आचार्य के मत में गो आदि अकथित की ही कल्म संज्ञा होती है। यु० मी०।

३. महा० ८।२।१८॥ यु० मी०।

३०–गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ ॥ अ० १ । ४ । ५२ ॥

गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक, प्रत्यवसानार्थक अर्थात् भोजनार्थक, शब्दकर्मक और अकर्मक, इन धातुओं का जो णिच् प्रत्यय के पहिले कर्ता है वह णिच् के हुए पश्चात् कर्मसंज्ञक हो। गत्यर्थक–गच्छति ग्रामं देवदत्तो, गमयति ग्रामं देवदत्तम्; याति ग्रामं देवदत्तो, यापयति ग्रामं देवदत्तं यज्ञदत्तः। यहां णिच् के पहिले का जो कर्ता देवदत्त है वह णिच् के पश्चात् कर्म संज्ञक हो के उस से द्वितीया हो जाती है। बुद्ध्यर्थक–जानाति विप्रः शास्त्रम्, ज्ञापयति विप्रं शास्त्रम्; बुद्ध्यते देवदत्तः शास्त्रम्, बोधयति देवदत्तं शास्त्रम्। प्रत्यवसानार्थक–अश्नाति फलानि माणवकः, आशयति फलानि माणवकम्; भुङ्क्ते ओदनं बालकः, भोजयत्योदनं बालकम्। शब्दकर्मक–ब्रूते धर्मं ब्राह्मणो, वाचयति धर्मं ब्राह्मणम्; उपदिशति धर्मं ब्राह्मणः, उपदेशयति धर्मं ब्राह्मणम्। अकर्मक–स्वपिति बालः, स्वापयति धात्री बालम्; पुत्रः शेते, माता पुत्रं शाययति। यहां सर्वत्र जो अण्यन्तावस्था में कर्ता है वही णिच् में कर्म हो गया है। इस सूत्र में गत्यादि धातुओं का ग्रहण इसलिये है कि "पचत्योदनं देवदत्तः, पाचयत्योदनं देवदत्तेन" यहां कर्म संज्ञा के न होने से कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है। और अणिकर्ता ग्रहण इसलिये है कि "देवदत्तो यज्ञदत्तं गमयति, तमन्यो गमयति देवदत्तेन। यहां णिच् के परे गम धातु का कर्ता है सो दूसरे णिच् में कर्म संज्ञक नहीं होता।

अब आगे इस सूत्र के वार्तिक लिखते हैं।

३१–वा०–दृशेः सर्वत्र ॥ १ । ४ । ५२ ॥

सर्वत्र अर्थात् दोनों पक्षों[1] में दृश धातु का जो अण्यन्तावस्था

1 उपर्युक्त सूत्र के भाष्य में शब्द-कर्म पद के अर्थ में विकल्प उठाया

का कर्ता है वह ण्यन्तावस्था में कर्म संज्ञक होवे । पश्यति रूपतर्कः कार्षापणम्, दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणम्। यहां रूपतर्क शब्द की कर्म संज्ञा होती है ।

३२-वा०-अदिखादिनीवहीनां प्रतिषेधः ॥१।४।५२॥

अदि, खादि इन दो धातुओं के प्रत्यवसानार्थ होने और नी, वहि इन दो के गत्यर्थक होने से कर्म संज्ञा प्राप्त है इसलिये प्रतिषेध किया है। अद-अत्ति देवदत्त, आदयति देवदत्तेन। यहां अण्यन्त धातु के कर्ता देवदत्त की कर्म संज्ञा न होने से द्वितीया विभक्ति न हुई।

तथा बहुत आचार्यों का ऐसा मत है कि—

३३-अपर आह-सर्वमेव प्रत्यवसानकार्यमदेर्न भवतीति वक्तव्यं, परस्मैपदमपि । इदमेकमिष्यते—क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्य इति ॥ १ । ४ । ५२ ॥

प्रत्यवसानार्थ धातुओं को जितना कार्य होता है उस में से अद धातु को कुछ भी न हो । तथा निगरणार्थ मान के जो परस्मैपद * प्राप्त है वह भी न हो। अत्ति देवदत्तः, आदयते देवदत्तेन। यहां आत्मनेपद होता है । प्रत्यवसानार्थ का एक कार्य अद धातु को होना चाहिये—इदमेषा जग्धम् †।

है—शब्द जिनकी क्रिया है अथवा शब्द जिनका कर्म है। सर्वत्र शब्द से इन दोनों पक्षों का ग्रहण है। यु० मी०।

* परस्मैपद—"निगरणचलनार्थेभ्यश्च" (अ० १ । ३ । ८७) इस सूत्र में निगरणार्थ शब्द प्रत्यवसानार्थ का पर्यायवाची है और प्रत्यवसान तथा निगरण इन दोनों का शब्द भेद होने से "परस्मैपदमपि" यह कहा है, नहीं तो प्रत्यवसान के कहने से हो ही जाता।

† (जग्धम्) जहां अद धातु के प्रत्यवसानार्थ होने से अधिकरण

खादति देवदत्तः, खादयति देवदत्तेन। यहां भी अणि के कर्ता देवदत्त शब्द की कर्म संज्ञा न हुई। नी–नयति भारं देवदत्तः, नाययति भारं देवदत्तेन। यहां नी धातु के कर्ता देवदत्त की कर्म संज्ञा न होने से उस में द्वितीया न हुई। वह–वहति भारं देवदत्तः, वाहयति भारं देवदत्तेन। यहां सर्वत्र णिच् में कर्ता की कर्म संज्ञा नहीं होती—परन्तु वह धातु में इतना विशेष है कि—

३४–वा–* वहेरनियन्तृकर्तृकस्य ॥ १ । ४ । ५२ ॥

यहां पूर्व वार्त्तिक से निषेध की अनुवृत्ति चली आती है। नियन्ता अर्थात् सारथि वह जहां धातु का कर्ता न हो, वहीं कर्म संज्ञा का निषेध हो, अन्यत्र नहीं। जैसे—वहति भारं देवदत्तः, वाहयति भारं देवदत्तेन। जहां कोई नियन्ता कर्ता होता है वहां कर्म संज्ञा का प्रतिषेध नहीं होता। यथा वहन्ति बलीवर्दा यवान्, वाहयति बलीवर्दान् यवान् †। यहां कर्म संज्ञा होके द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

कारक में क्त प्रत्यय [का] विधान है सो प्रत्ययस्तान के सब कार्यों के निषेध में इसका भी निषेध पाया था। "भुक्ताम्" यह कर्म में षष्ठी और "जग्धम्" अधिकरण में क्त प्रत्यय है। "इदमेषामित्यते" इस से निषेध का निषेध किया है।

* पूर्व वार्त्तिक के सामान्य अर्थ में वह धातु के अणि कर्ता की कर्म संज्ञा का प्रतिषेध है। इस वार्त्तिक से उसी का नियम करते हैं कि वह निषेध, नियन्ता जहां कर्ता हो वहां न लगे।

† यहां [अण्यन्त अवस्था में] प्रेरक हांकने वाले की विवक्षा नहीं है, इसलिये वाहन क्रिया के स्वतन्त्र कर्ता बैल हो गये। [जब उनको हांकने वाले की विवक्षा होती है, तब ण्यन्त में बलीवर्द की कर्म संज्ञा हो जाती है]।

३५–वा–‡ भक्षेरहिंसार्थस्य ॥ १ । ४ । ५२ ॥

यहां भी पूर्व वार्त्तिक से "प्रतिषेधः" इस पद की अनुवृत्ति चली आती है। जो हिंसार्थ से भिन्न अर्थ में वर्तमान भक्ष धातु [है] उस का अणि में जो कर्त्ता उसकी णिच् में कर्म संज्ञा न हो। जैसे–भक्षयति पिण्डीं देवदत्तः। भक्षयति पिण्डीं देवदत्तेन। इस वार्तिक में हिंसार्थ का निषेध इसलिये कि "भक्षयति बलीवर्दान् यवान्" खेत के छोटे छोटे जौ बैलों से चराता है। यहां खेत वाले की हिंसा समझी जाती है क्योंकि खेत ही से उसका जीवन है। इससे कर्म संज्ञा का निषेध नहीं हुआ।

३६–वा०–अकर्मकग्रहणे कालकर्मणामुपसंख्यानम् × ॥ १ । ४ । ५२ ॥

जो अकर्मक धातुओं का सूत्र में ग्रहण है वहां कालकर्म वाले धातुओं का भी ग्रहण समझना चाहिये। जैसे—मासमास्ते देवदत्तः, मासमासयति देवदत्तम्। यहां मास प्रथम कर्म है अणि के कर्त्ता देवदत्त की कर्म संज्ञा होके द्वितीया विभक्ति हो गई है।

३७–हृक्रोरन्यतरस्याम् ॥ ३७ ॥अ० १ । ४ । ५३॥

हृ और कृ धातु का जो अण्यन्तावस्था कर्त्ता है वह ण्यन्तावस्था में विकल्प करके कर्म संज्ञक हो। जैसे–अभ्यवहारयति सैन्धवान् सैन्धवैर्वा, विकारयति सैन्धवान् सैन्धवैर्वा ❀।

---

‡ यह वार्तिक सूत्र से [illegible] सबन्ध रखता है। भक्ष धातु के प्रत्यव-सानार्थ होने से सामान्य अर्थों में भक्ष धातु के अणिकर्त्ता की कर्म संज्ञा प्राप्त है। सो जहां हिंसा अर्थात् पीड़ा पहुँचाना अर्थ हो वहीं अणिकर्त्ता की कर्म संज्ञा हो और अहिंसा में निषेध हो जावे।

× कालकर्म वाले धातु अकर्मकों के समान समझे जाते हैं, इसलिये अकर्मकों के साथ इन का उपसंख्यान किया है।

❀ धातुओं के अनेकार्थ होने से कई अर्थों में कर्मसंज्ञा प्राप्त है और

३८–वा०–हृक्रोर्वावचनेऽभिवादिदृशोरात्मनेपद उपसंख्यानम् ॥ १ । ४ । ५३ ॥

जो अभि पूर्वक वद और दृश धातु का अणि में कर्ता है वह णयन्तावस्था में कर्म संज्ञक विकल्प करके हो, आत्मनेपद में। जैसे–अभिवदति गुरुं देवदत्तः, अभिवादयते गुरुं देवदत्तेन देवदत्तं वा, पश्यन्ति भृत्या राजानं, दर्शयते भृत्यै राजा, दर्शयते भृत्यान् राजा। यहां अभि पूर्वक वद धातु शब्दकर्मक और दृश धातु बुद्धयर्थक है वहां तो पूर्व सूत्र से कर्मसंज्ञा प्राप्त थी, अन्य अर्थ में नहीं। इस वार्तिक से सर्वत्र विकल्प करके हो जाती है। इसी से यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा कहाती है।

[३–करण कारक]

३९–साधकतमं करणम् ॥ अ० १ । ४ । ४२ ॥

जो क्रिया की सिद्धि करने में मुख्य साधक हो, वह कारक करण संज्ञक हो। इसका फल–

४०–कर्तृकरणयोस्तृतीया ॥ अ० २ । ३ । १८ ॥

अनभिहित कर्ता और करण कारक में तृतीया विभक्ति हो। कर्ता–जैसे–देवदत्तेन कृतम्, देवदत्तेन क्रियते। देवदत्त ने किया, यहां देवदत्त कर्ता [है]। करण–दात्रेण यवान् लुनाति, परशुना काष्ठं वृश्चति * इत्यादि। दरांति से जवों को काटता और कुल्हाड़े से लकड़ी को काटता है, यहां दरांति और कुल्हाड़ा करण हैं।

कहीं में नहीं। जैसे–अभ्यव और आङ्पूर्वक हृ धातु प्रत्यवसानार्थक है वहां प्राप्त है, अन्यत्र नहीं, तथा विपूर्वक कृ धातु शब्दकर्मक और वहाँ अकर्मक है वहां प्राप्त, अन्यत्र अप्राप्त। इस प्रकार यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है।

* यहां (लुनाति) छेदन का लुनना और (वृश्चति) वृक्ष का

४१-वा०-तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम् † ॥ २ । ३ । १८ ॥

प्रकृति आदि शब्दों से भी तृतीया विभक्ति हो। प्रकृत्या दर्शनीयः। यह स्वभाव से देखने योग्य है। प्रायेण वैयाकरणः। यह बहुधा व्याकरण भी पढ़ा है इत्यादि। यहां अनभिहित कर्ता करण कारकों के न होने से तृतीया विभक्ति नहीं प्राप्त थी, सो इस वार्तिक से विधान की है। प्रकृति आदि शब्द बहुत हैं, सो अष्टाध्यायी महाभाष्य के पढ़ने से आवेंगे ※।

४२-सहयुक्तेऽप्रधाने ॥ अ० २ । ३ । १९ ॥

सह शब्द युक्त अप्रधान कर्ता कारक में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे-पुत्रेण सहागतः पिता। पुत्र सहित पिता आया इत्यादि। यहाँ पुत्र अप्रधान है उस में तृतीया विभक्ति हो गई प्रधान पिता में न हुई।

४३-येनाङ्गविकारः ॥ अ० २ । ३ । २० ॥

जिस अङ्ग अवयव से शरीर का विकार जाना जाय, उस अवयव में तृतीया विभक्ति हो। जैसे-शिरसा खल्वाटः, अक्ष्णा काणः। यह शिर से खल्वाट और आंख से काणा है इत्यादि।

४४-इत्थंभूतलक्षणे ॥ अ० २ । ३ । २१ ॥

काटना इन क्रियाओं के मुख्य साधन दात्र और कुल्हाड़ी हैं, इन के बिना उक्त क्रिया कदाचित् नहीं हो सकती।

† यहां से ले के तृतीया विभक्ति विधायक प्रकरण में जो कुछ सूत्र वार्तिक हैं वे अपूर्व विधायक इसलिये समझे जाते हैं कि इन में तृतीया किसी से प्राप्त नहीं है। ※ प्रकृति आदि शब्दों का संग्रह गणपाठ में (२१वां गण पृष्ठ १२) में देखो। यु० मी०।

इत्थंभूत अर्थात् इस प्रकार का वह है, इस अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से तृतीया विभक्ति होवे। जैसे—अपि भवान् मेखलया ब्रह्मचारिणमद्राक्षीत्, धर्मेण सुखम्, पापेन दुःखम् इत्यादि। यहां मेखला शब्द से ब्रह्मचारी का स्वरूप, धर्म से सुख और पाप से दुःख जाना जाता है। इत्थंभूत से भिन्न में तृतीया विभक्ति न हो। जैसे—वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् इत्यादि।

४५—संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि * ॥४५॥अ०२।३।२२॥

संपूर्वक ज्ञा धातु के अनभिहित कर्म में तृतीया विभक्ति विकल्प कर के होवे, पक्ष में द्वितीया हो। मात्रा संजानीते बालः, मातरं संजानीते बालः।

४६—हेतौ ॥ ४६ ॥ अ० २ । ३ । २३ ॥

हेतुवाची शब्द में तृतीया विभक्ति हो। विद्यया यशः †। विद्या से कीर्त्ति होती और—धनेन दानम्। धन से दान होता है इत्यादि।

४७—वा०—निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम्॥४७॥

निमित्त कारण और हेतु इन तीन शब्दों और इन के सम्बन्धी शब्दों से सब विभक्ति बहुल करके होती हैं। जैसे—[निमित्त-] किं निमित्तं वसति, पठति, गच्छति, आयाति, करोति, तिष्ठति, इत्यादि। केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय, कस्मान्निमित्तात्, कस्य

---

* यहां अनभिहित कर्म में द्वितीया ही प्राप्त है तृतीया नहीं, इस कारण यह अप्राप्त विभाषा है। और उसी द्वितीया का अपवाद यह तृतीया समझी जाती है। पक्ष में द्वितीया भी होती है।

† हेतु उसको कहते हैं कि जिस के साथ जिसका प्रयोग हो उसका निमित्त कारण समझा जावे, यहां भी विद्या यश का निमित्त कारण

निमित्तस्य, कस्मिन्निमित्ते च। कारण-किङ्कारणम्, केन कारणेन, कस्मै कारणाय, कस्मात् कारणात्, कस्य कारणस्य, कस्मिन् कारणे च वसति। हेतु-को हेतुः, कं हेतुम्, केन हेतुना, कस्मै हेतवे, कस्माद्धेतो, कस्य हेतोः, कस्मिन् हेतौ वा वसतीत्यादि ‡।

४८—अकर्त्तर्यृणे पञ्चमी ॥ ४८ ॥ अ० २।३।२४ ॥

ऋण अर्थ में कर्त्ता भिन्न हेतु वाची शब्दों से पञ्चमी विभक्ति हो। जैसे-शताद् बद्धः इत्यादि। ऋणी को सौ रुपये ऋण होने के कारण ऋण वाले ने बांधा। यहां 'अकर्त्तरि' ग्रहण इसलिये है कि—"शतेन बन्धितः" यहां सौ रुपयों से बंधवाया। इस प्रयोजक कर्त्ता की विवक्षा होने से पञ्चमी विभक्ति न हुई।

४६—विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् ॥ अ० २ । ३ । २५ ॥

स्त्रीलिङ्ग को छोड़ के पुलिङ्ग वा नपुंसक लिङ्ग में वर्तमान जो गुणवाची हेतु शब्द उससे विकल्प करके पञ्चमी विभक्ति हो। जैसे—मौढ्याद् बद्धः, मौढ्येन बद्धः इत्यादि। यह मूर्ख जन अपनी मूर्खता से आप ही बंधा है। यहां स्त्रीलिङ्ग का निषेध इसलिये किया है कि "प्रज्ञया पूजितः" इत्यादि यहां पञ्चमी विभक्ति न हो।

५०—षष्ठी हेतुप्रयोगे ॥ अ० २ । ३ । २६ ॥

हेतु शब्द के प्रयोग में षष्ठी विभक्ति हो। जैसे—विद्याया हेतौ-र्गुरुकुले वसति इत्यादि। विद्या-ग्रहण के हेतु से यह ब्रह्मचारी गुरुकुल में बसता है।

५१—सर्वनाम्नस्तृतीया च ॥ अ० २ । ३ । २७ ॥

‡ निमित्त कारण और हेतु शब्दों से सब वचन, यथायोग्य सब कारक और क्रिया भी होती है। परन्तु इस वचन का मुख्य प्रयोजन भाष्य लोगों के प्रयोग विषय में साधुत्व दर्शाना है।

सर्वनाम वाची विशेषण सहित हेतु शब्द के प्रयोग में तृतीया और षष्ठी विभक्ति हों। जैसे—केन हेतुना कस्य हेतोर्वा वसति इत्यादि। यह जन किस हेतु से बसता है।

अब करण संज्ञा में जो विशेष सूत्र हैं सो लिखते हैं—

५२–दिवः कर्म च ॥ अ० १ । ४ । ४३ ॥

❀ पूर्व सूत्र से नित्य करण संज्ञा प्राप्त थी, उसका बाधक यह यह सूत्र है। जो दिवु धातु के प्रयोग में साधकतम अर्थात् क्रिया की सिद्धि में मुख्य हेतु कारक है वह कर्म संज्ञक और चकार से करण संज्ञक भी हो। जैसे—अक्षानक्षैर्वा दीव्यति इत्यादि। † पासों से खेलता है।

५३–परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् ॥अ० १।४।४४॥

यहां भी "साधक०" (कार० ३९) इस पूर्व सूत्र से नित्य करण संज्ञा पाती थी, सो इस सूत्र से करण और पक्ष में सम्प्रदान संज्ञा की है। परिक्रयण अर्थात् जो सब प्रकार खरीदने अर्थ में साधकतम कारक है, वह सम्प्रदान संज्ञक विकल्प करके हो और पक्ष में करण संज्ञक हो। जैसे—शताय शतेन वा परिक्रीणाति इत्यादि। सौ रुपया से खरीदता है।

❀ (पूर्वसूत्र) साधकतमं करणम् (सूत्र ३९)।

† इत्यादि सूत्रों के उदाहरणों में केवल करण संज्ञा हो के तृतीया विभक्ति प्राप्त थी, उसके ये सूत्र अपवाद हैं। बहुव्यापक उत्सर्ग और अल्प व्यापक अपवाद संज्ञक [होते हैं] उत्सर्ग सूत्रों ही के विषय में अपवाद सूत्र प्रवृत्त होते और अपवाद सूत्रों के विषय में उत्सर्ग सूत्र प्रवृत्त नहीं होते, किन्तु अपवाद विषयों को छोड़ के उत्सर्ग सूत्रों की प्रवृत्ति होती है। ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये [देखो पारिभाषिक, परिभाषा ५५–५७]

[४—सम्प्रदान कारक]

५४—कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् ॥अ० १।४।३२॥

अत्यन्त इष्ट पदार्थ समझ के जिसके लिये देने का अभिप्राय किया जाय वह कारक संप्रदान संज्ञक होवे । इसका फल—

५५—चतुर्थी संप्रदाने ॥ अ० २ । ३ । १३ ॥

संप्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति हो । जैसे—शिष्याय विद्यां ददाति * इत्यादि । आचार्य शिष्य को विद्या देता है ।

५६—वा०—† चतुर्थीविधाने तादर्थ्ये उपसंख्यानम् ॥ २ । २ । १३ ॥

तादर्थ्य अर्थात् जिस कार्य के लिये कारणवाची शब्द का प्रयोग किया हो, उस कार्यवाची शब्द से चतुर्थी विभक्ति होवे । जैसे—यूपाय दारु, कुण्डलाय हिरण्यम् इत्यादि । यह खम्भा के लिये काष्ठ और कुण्डल के लिये सोना है ।

५७—वा०—क्लृपि-सपद्यमाने ॥ २ । २ । १३ ॥

जो क्लृपि धातु का उत्पन्न होने वाला कारक है उसमें चतुर्थी हो । जैसे—मूत्राय कल्पते यवागू, विद्यायै कल्पते बुद्धिमान् इत्यादि। मूत्र के उत्पन्न करने में यवागू और विद्या पढने के लिये बुद्धिमान् समर्थ होता है ।

५८—वा०—उत्पातेन ज्ञाप्यमाने ॥ २ । २ । १३ ॥

---

* यहां अत्यन्त इष्ट पदार्थ विद्या है इसीसे उसकी कर्म संज्ञा हो के द्वितीया हुई है । और विद्या जिस शिष्य के लिये देवे का अभिप्राय है उसी की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी होती है ।

† यहां से आगे चतुर्थी विधान प्रकरण में जितने सूत्र वार्तिक लिखेंगे,

आकाश से बिजली के चमकने और ओले पत्थर आदि गिरने को उत्पात कहते हैं। उस उत्पात से जो बात जानी जावे वहां चतुर्थी विभक्ति होवे। जैसे—वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी। कृष्णा सर्वविनाशाय दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥ पीली बिजली जो चमके तो वायु अधिक चले, इत्यादि।

५६—वा०—हितयोगे च ॥ २ । २ । १३ ॥

हित शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति हो। जैसे—हितमरोचकिने पाचनम्, इत्यादि। जिस की रुचि भोजन पर न हो उसके लिये पाचन औषध हितकारी है।

६०—क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः ॥ अ० २ । ३ । १४ ॥

अनभिहित कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति पाती थी, उसका अपवाद यह सूत्र है। जहां क्रिया के लिये क्रिया हो, वहां अप्रयुज्यमान धातु के अनभिहित कर्म कारक में चतुर्थी विभक्ति हो। जैसे—वृकेभ्यो व्रजति, वृकान् हन्तुं व्रजति इत्यादि। भेड़ियों को मारने जाता है, यहां जो वृकों को मारना क्रिया है सो हन धातु अप्रयुज्मान है। यहां कर्म ग्रहण इसलिये है कि—"वृकेभ्यो व्रजत्यश्वेन" अश्व शब्द में चतुर्थी न हो। और स्थानिग्रहण इसलिये है कि—"वृकान् हन्तुं व्रजति" यहां प्रयुज्यमान के होने से चतुर्थी विभक्ति नहीं हुई।

६१—तुमर्थाच्च भाववचनात् ॥ अ० २ । ३ । १५ ॥

जहां अप्रयुज्यमान क्रियार्थोपपद धातु के कर्म का वाची तुमर्थ-

इसमें संप्रदान संज्ञा के न होने से चतुर्थी प्राप्त नहीं, क्योंकि यहां कर्म से किसी का अभिप्राय सिद्ध नहीं किया जाता। इसलिये यह सब प्रकरण है।

भाववचन प्रातिपदिक हो, वहां उस से चतुर्थी विभक्ति हो। जैसे–इष्टये व्रजति ॐ, इष्टिं कर्तुं व्रजति इत्यादि। पौर्णमासी आदि में होम करने को जाता है। यहां तुमर्थ ग्रहण इसलिये है कि–'पाकं करोति' यहां चतुर्थी न हो।

६२–नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च ॥

अ० २। ३। १६॥

नमस्, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् और वषट्, इन शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति होवे। नमस्ते रुद्र मन्यवे, स्वस्ति शिष्याय, अग्नये स्वाहा, स्वधा पितृभ्यः, अलं मल्लो मल्लाय, वषडिन्द्राय इत्यादि †

६३–वा–अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणं कर्तव्यम्॥

२। ३। १६॥

अलं शब्द से सामर्थ्यवाचक का ग्रहण होना चाहिये। क्योंकि ‡

ॐ यहां इष्टि शब्द क्रियार्थोपपद करोति धातु का भाववचन कर्म है, और व्रजन क्रिया इष्टि, सम्पादन के लिये है इसी से इसको क्रियार्थोपक्रिया कहते हैं।

† प्राण के लिये नमः = अन्न। अग्नि में स्वाहा = संस्कृत हवि। पितरों अर्थात् पिता आदि ज्ञानियों से स्वधा = अर्थात् अपने योग्य सुशिक्षा। मल्ल को जीतने में मल्ल ही समर्थ। इन्द्र बिजली की विद्या ग्रहण करने के लिये उत्तम क्रिया अच्छी होती है।

‡ पूर्व सूत्र में जो अलं शब्द पढ़ा है उसी का शेष यह वार्तिक है। अलं शब्द के चार अर्थ हैं—भूषण, पर्याप्ति अर्थात् सामर्थ्य, समाप्ति और निषेध। इन सब अर्थों में इसके योग में चतुर्थी प्राप्त थी, सो नियम हो गया कि अलं पर्याप्ति अर्थ में हो तो अथवा पर्याप्त्यर्थवाचक अन्य शब्दों के योग में भी हो जावे।

'सम्प्रदान संज्ञा में कर्म ग्रहण इसलिये है कि "स्नातकाय कन्यां ददाति" इत्यादि। ब्रह्मचर्यव्रत से पूर्णविद्या पढ़े हुए सुशील पुरुष को कन्या देता है। यहां कन्या की सम्प्रदान संज्ञा न हो जावे। "प्र" और "स" इन दो शब्दों का ग्रहण इसलिये है कि–अप्राप्त की सम्प्रदान संज्ञा न हो जावे। अर्थात् दिया था, देता है और देगा, अन्यथा अभि प्र न हों तो वर्तमान काल ही में सम्प्रदान संज्ञा होती, अन्यत्र नहीं।

६६—वा०—कर्मणः करणसंज्ञा वक्तव्या, संप्रदानस्य च कर्मसंज्ञा ॥ १ । ४ । ३२ ॥

इस वार्तिक से कर्म की तो करण और सम्प्रदान की कर्म संज्ञा होती है। जैसे—पशुना रुद्रं यजते, पशु रुद्राय ददातीत्यर्थः इत्यादि। रुद्र अर्थात् मध्य[1] विद्वान् को पशु देता है। यहां पशु तो कर्म है, उस की करण संज्ञा हो के तृतीया विभक्ति हो गई। रुद्र नाम किसी मध्यम विद्वान् को पशु देता है।

६७—रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ॥ अ० १ । ४ । ३३ ॥

जो रुच्यर्थक धातुओं के प्रयोग में तृप्त होने वाला कारक है वह संप्रदान संज्ञक हो। जैसे—ब्रह्मचारिणे रोचते विद्या इत्यादि। ब्रह्मचारी अर्थात् नियमपूर्वक विद्या पढ़ने वाला मनुष्य विद्या से प्रसन्न

१ यह 'कर्मणा यमभिप्रैति" (का० ५४) सूत्र की व्याख्या — शेष भाग है। यु० मी०।

'अलं कुरुते कन्याम्' यहां भूषण अर्थ में चतुर्थी विभक्ति न हो और "प्रभुर्मल्लो मल्लाय' 'प्रभवति मल्लो मल्लाय' यहां अलं के पर्य्यायवाची प्रभु और प्रभवति शब्द के योग में भी चतुर्थी विभक्ति हो जावे।

६४—मन्य* कर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु ॥

अ० २ । ३ । १७ ॥

इस सूत्र में मन्य निर्देश दिवादि गण के मन धातु का किया है। जहां मन्य धातु के अप्राणि वाची अनभिहित कर्म में तिरस्कार अर्थ विदित होता हो तो वहां विकल्प कर के चतुर्थी विभक्ति हो, पक्ष में द्वितीया। त्वा तृणं मन्ये, त्वां तृणाय मन्ये इत्यादि। मैं तुझ को तृण की तुल्य मानता हूं, यह तिरस्कार है। यहां दिवादि विकरण के ग्रहण से "त्वां तृणं मन्वे" यहां चतुर्थी नहीं होती। यहां मन्य कर्म ग्रहण इसलिये है कि "त्वा तृणं जानामि" यहां चतुर्थी न हो। अनादर ग्रहण इसलिये है कि "वाचं मन्ये सरस्वतीम्" यहां चतुर्थी न हो और अप्राणि ग्रहण इसलिये है कि "काकं मन्ये त्वाम्" इत्यादि में चतुर्थी विभक्ति न हो।

६५—वा०—अनावादिष्विति वक्तव्यम् ॥२।३।१७॥

जो इस सूत्र में अप्राणी का ग्रहण किया है उसके स्थान में वार्त्तिकरूप "अनावादिषु" ऐसा न्यास करना चाहिये। क्योंकि कहीं २ प्राणी वाची मन्य धातु के कर्म में भी चतुर्थी होती है। जैसे—न त्वा श्वानं मन्ये, न त्वा शुने मन्ये इत्यादि। मैं तुझे कुत्ते के समान भी नहीं मानता।

---

* यहां मन्य धातु से अनभिहित कर्म में केवल द्वितीया विभक्ति ही पाती है, उसी का बाधक यह सूत्र है, और इसीलिये यह अप्राप्त विभाषा कहाती है।

संप्रदान संज्ञा में कर्म ग्रहण इसलिये है कि "स्नातकाय कन्यां ददाति" इत्यादि। ब्रह्मचर्यव्रत से पूर्णविद्या पढ़े हुए सुशील पुरुष को कन्या देता है। यहां कन्या की संप्रदान संज्ञा न हो जावे। "यं" और "स" इन दो शब्दों का ग्रहण इसलिये है कि-अप्राप्त की संप्रदान संज्ञा न हो जावे। अर्थात् दिया था, देता है और देगा, अन्यथा अभि प्र न हों तो वर्तमान काल ही में संप्रदान संज्ञा होती, अन्यत्र नहीं।

६६—वा०—कर्मणः करणसंज्ञा वक्तव्या, संप्रदानस्य च कर्मसंज्ञा ॥ १ । ४ । ३२ ॥

इस वार्तिक से कर्म की तो करण और संप्रदान की कर्म संज्ञा होती है। जैसे—पशुना रुद्रं यजते, पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः इत्यादि। रुद्र अर्थात् मध्य[2] विद्वान् को पशु देता है। यहां पशु तो कर्म है, उस को करण संज्ञा हो के तृतीया विभक्ति हो गई। रुद्र नाम किसी मध्यम विद्वान् को पशु देता है।

६७—रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ॥ अ० १ । ४ । ३३ ॥

जो रुच्यर्थक धातुओं के प्रयोग में तृप्त होने वाला कारक है वह संप्रदान संज्ञक हो। जैसे—ब्रह्मचारिणे रोचते विद्या इत्यादि। ब्रह्मचारी अर्थात् नियमपूर्वक विद्या पढ़ने वाला मनुष्य विद्या से प्रसन्न

---

१. यह "कर्मणा यमभिप्रैति" (का० ५४) सूत्र की व्याख्या का शेष भाग है। यु० मी०।

२. महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश आदि ग्रन्थों में वसु का अर्थ २४ वर्ष तक अध्ययन करने वाला, रुद्र का अर्थ ४४ वर्ष तक अध्ययन करने वाला और आदित्य का अर्थ ४८ वर्ष तक विद्याध्ययन करने वाला किया है। अतः यहां रुद्र का अर्थ मध्य [illegible] लिखा है। यु० मी०।

और तृप्त होता है। यहां प्रीयमाण ग्रहण इसलिये है कि विद्या शब्द की संप्रदान संज्ञा न हो।

६८—श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः॥अ०१।४।३४॥

श्लाघ, ह्नुङ्, स्था और शप्, इन धातुओं के प्रयोग में जिस को जनाने की इच्छा की जावे वह कारक संप्रदान संज्ञक होवे। जैसे—पुत्राय श्लाघते, जाराय ह्नुते, विद्यायै तिष्ठते, दुष्टाय शपते * इत्यादि। यह स्त्री, पुत्र की प्रशंसा, व्यभिचारी को दूर करती, विद्या के लिये खड़ी और दुष्ट को शाप देती है। यहां ज्ञीप्स्यमान ग्रहण इसलिये है कि जिस को जनावे उसी की संप्रदान संज्ञा होवे, धर्म की न हो जाय। जैसे—पिता पुत्राय धर्मं श्लाघते इत्यादि।

६९—धारेरुत्तमर्णः ॥ अ० १ । ४ । ३५ ॥

जो किसी को ऋण देवे वह उत्तमर्ण कहावा है। जो ण्यन्त धृ धातु के प्रयोग में उत्तमर्ण कारक है वह संप्रदान संज्ञक हो। जैसे—देवदत्ताय शतं सहस्रं वा धारयति इत्यादि। देवदत्त के सौ वा हजार रुपये ऋण यज्ञदत्त धरण करता है। यहां देवदत्त ऋण का देने वाला होने से उत्तमर्ण और यज्ञदत्त लेने वाला होने से अधमर्ण कहावा है। यहां शेष कारक के होने से षष्ठी विभक्ति पाती थी, उस का अपवाद संप्रदान संज्ञा हो के चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। उत्तमर्ण ग्रहण इसलिये है कि उस सौ वा हजार की संप्रदान संज्ञा न हो जाय।

७०—स्पृहेरीप्सितः ॥ अ० १ । ४ । ३६ ॥

जो स्पृह धातु के प्रयोग में ईप्सित अर्थात् जिस पदार्थ के ग्रहण की इच्छा होती है वह संप्रदान संज्ञक हो। जैसे—धनाय स्पृहयति

* यहां दुष्ट को पुकारना है वह उसी को जनाया जाता है, इसलिये वह संप्रदान है।

इत्यादि। भोगी मनुष्य धन मिलने की इच्छा करता है। यहां धन उस को इष्ट है, इस से धन की संप्रदान संज्ञा हो के चतुर्थी विभक्ति हो गई। ईप्सित ग्रहण इसलिये है कि भोग के कर्त्ता की संप्रदान संज्ञा न हो जाय।

७१—† क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः ॥

अ० १। ४। ३७ ॥

क्रुध, द्रुह, ईर्ष्य, असूय, इन के तुल्यार्थ धातुओं के प्रयोग में जिस के प्रति कोप किया जाय, वह कारक सम्प्रदान संज्ञक हो। जैसे—क्रुध-दुष्टाय क्रुध्यति, द्रुह-शत्रवे द्रुह्यति, ईर्ष्य-सपत्न्या ईर्ष्यति, असूय-विदुषेऽसूयति; राजा दुष्ट पर क्रोध, शत्रु से द्रोह, स्वपति की दूसरी स्त्री से अप्रीति और मूर्ख जन विद्वान् की निन्दा करता है। यहां जिस के प्रति कोप हो इस का ग्रहण इसलिये है कि "भिक्षुको भिक्षुकमीर्ष्यति" इत्यादि में सम्प्रदान संज्ञा न हो।

७२—क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म ॥ अ० १। ४। ३८ ॥

पूर्व से सम्प्रदान संज्ञा प्राप्त थी, उस का बाधक यह सूत्र है। है। उपसर्ग युक्त क्रुध और द्रुह धातु के प्रयोग में जिस के प्रति कोप हो वह कारक कर्म संज्ञक हो। जैसे—दुष्टमभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति वा इत्यादि। यहा उपसर्ग युक्त का ग्रहण इसलिये है कि "दुष्टाय क्रुध्यति, द्रुह्यति वा" इत्यादि में कर्म संज्ञा न हो जाय।

७३—राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः ॥ अ० १। ४। ३९ ॥

राध और ईक्ष धातु के प्रयोग में जिस का विविध प्रकार का प्रश्न हो वह कारक सम्प्रदान संज्ञक हो। जैसे—शिष्याय विद्यां राध्नोति, ईक्षते वा गुरुः इत्यादि। आचार्य विद्यार्थी के लिये विद्या

† यह सूत्र कर्मसंज्ञा का अपवाद है।

को सिद्ध और प्रत्यक्ष कराता है। यहां राध और ईक्ष धातु का ग्रहण इसलिये है कि इनके योग से अन्यत्र संप्रदान संज्ञा न हो। "यस्य" ग्रहण इसलिये है कि विप्रश्न की संप्रदान संज्ञा न हो जावे।

७४–प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता ॥अ० १।४।४०॥

जो प्रति और आङ् पूर्वक श्रु धातु के प्रयोग में पूर्व का कर्ता कारक हो वह संप्रदान संज्ञक होवे। जैसे—पूर्वं देवदत्तो विद्यां याचते, देवदत्ताय विद्यां प्रतिशृणोति, आशृणोति वा विद्वान् इत्यादि। प्रथम देवदत्त विद्या को चाहता है, उस को विद्वान् सुनाता है। "पूर्वस्य" ग्रहण इसलिये है कि विद्वान् की संप्रदान संज्ञा न हो जावे। यहां "प्रति" और "आङ्" का ग्रहण इसलिये है कि ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा और आरम्भ से अन्त तक पढ़ना और पढ़ाना चाहिये।

७५–अनुप्रतिगृणश्च ॥ अ० । १ ४ । ४१ ॥

जो अनु और प्रति पूर्वक गृ धातु के प्रयोग में पूर्व का कर्ता कारक हो तो वह संप्रदान संज्ञक हो। जैसे—शान्ताय विद्यामनुगृणाति, प्रतिगृणाति वा इत्यादि। शान्तिमान् विद्यार्थी के लिये विद्या का उपदेश करता [है]। इस सूत्र में चकार पूर्व के कर्ता की अनुवृत्ति के लिये है। यह सम्प्रदान कारक पूरा हुआ।

५–[अपादानकारक]

७६–ध्रुवमपायेऽपादानम् ॥ अ० १ । ४ । २४ ॥

ध्रुव उसको कहते हैं कि जो पदार्थों के पृथक् होने में निश्चल रहे, वह कारक अपादान संज्ञक हो। इसका फल—

७७–अपादाने पञ्चमी ॥ अ० २ । ३ । २८ ॥

अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति हो। जैसे—ग्रामादागच्छति, वृक्षात् पर्णं पतति इत्यादि। ग्राम से मनुष्य आता है, वृक्ष से पत्ते

गिरते हैं। यहां ग्राम और वृक्ष निश्चल हैं, उन में पञ्चमी हो जाती है।

(प्रश्न) जहां वियोग के बीच में दोनों चलायमान हों वहां किस को अपादान संज्ञा समझनी चाहिये। जैसे—रथात् प्रवीतात् पतित', धावतस्त्रस्ताद् वाऽश्वात् पतितः। भागते हुए रथ से गिरा, भागते वा डरते हुए घोडे से गिरा। यहां रथ और घोडे की अपादान संज्ञा नहीं होनी चाहिये, क्योंकि वे तो चलायमान हैं और गिरा हुआ मनुष्य निश्चल होता है।

(उत्तर) जिस रथ वा घोडे के स्थल पीठ से गिरता है वह निश्चल है उसको अपादान संज्ञा होती है।

७८—वा०—पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम् ॥ २ । ३ । २८ ॥

जहां ल्यबन्त क्रिया का लोप हो वहां उसके कर्म में पञ्चमी विभक्ति हो। जैसे—*प्रासादात् प्रेक्षते = प्रासादमारुह्य प्रेक्षते। यहां ल्यबन्त आरुह्य क्रिया का लोप हुआ है उस के प्रसाद कर्म में पञ्चमी विभक्ति होती है।

७९—वा०—अधिकरणे च ॥ २ । ३ । २८ ॥

जो ल्यबन्त क्रिया का लोप हो तो उस के अधिकरण में पञ्चमी विभक्ति हो। जैसे—आसनात् प्रेक्षते, आसनमुपविश्य प्रेक्षते, शयनात् प्रेक्षते इत्यादि, आसन और शय्या पर बैठके देखता है। यहां शयन और आसन उपविश्य क्रिया के अधिकरण हैं। उन में सप्तमी की प्राप्ति होने से उसी का यह अपवाद है।

८०—वा०—† प्रश्नाख्यानयोश्च ॥ २ । ३ । २८ ॥

* यहां अपादान संज्ञा के न होने से पञ्चमी किसी सूत्र से प्राप्त नहीं थी, किन्तु कर्म में द्वितीया प्राप्त थी, उस का यह अपवाद है।

† यहां से ले के आगे इस पञ्चमी विधान प्रकरण में जितने सूत्र

प्रश्न और आख्यान वाची शब्द से पञ्चमी विभक्ति हो। जैसे-कुतो भवान् ? पाटलिपुत्राद्। यहां 'कुत' शब्द में प्रश्न वाची होने पाटलिपुत्र शब्द में आख्यान के होने से पञ्चमी विभक्ति हुई है।

८१-वा०-यतश्चाध्वकालनिर्माणम् ॥ २ । ३ । २८॥

जहां से मार्ग और काल का परिमाण किया जाय वहां पञ्चमी विभक्ति हो। मार्गनिर्माण-जैसे—गवीधुमतः सांकाश्यं चत्वारि योजनानि, गवीधुमान् नगर से साकाश्य नगर चार योजन = सोलह कोश दूर है। यहां गवीधुमान् से मार्ग का परिमाण होने से वहां पञ्चमी विभक्ति हो गई। कालनिर्माण-कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे। [कार्तिकी पूर्णिमा से आग्रहायणी पूर्णिमा एक मास पर आती है] यहां कार्त्तिकी शब्द में पञ्चमी विभक्ति हो गई है।

८२-वा०-तद्युक्तात् काले सप्तमी ॥ २ । ३ । २८ ॥

जो काल के निर्माण मे पञ्चमी विभक्ति की है उससे उत्तर कालवाची शब्द से सप्तमी विभक्ति हो। जैसे—कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे। यहां मास शब्द मे सप्तमी हुई है।

८३-वा०-अध्वनः प्रथमा च ॥ २ । ३ ॥

मार्ग के निर्माण में जो पञ्चमी विभक्ति की है उस से उत्तर मार्ग वाची शब्द से प्रथमा और सप्तमी दोनों विभक्ति हों जैसे—गवीधुमतः सांकाश्यं चत्वारि योजनानि, गवीधुमतः सांकाश्य चतुर्षु योजनेषु। यहां मार्ग वाची योजना शब्द से प्रथमा और सप्तमी विभक्ति हुई हैं।

८४-अन्यारादितरर्त्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते ॥
अ० २ । ३ । २९ ॥

वार्तिक लिखे हैं, वे सब अपूर्व विधायक समझने चाहियें, क्योंकि यहां किसीसे कोई विभक्ति का विधान नहीं किया है।

अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिशावाची शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच् और आहि प्रत्ययान्त अव्यय, इन शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति होवे। जैसे, अन्य–अन्यो देवदत्ताद्यज्ञदत्तः, आरात्–आराच्छूद्राद् रजकः, इतर–त्वस्मादितरं न गृह्णीयात्, ऋते–ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः, दिग्वाचीशब्द–पूर्वो ग्रामात् कूपः, अञ्चूत्तरपद–प्राग्ग्रामात् तडागम्, आच्–दक्षिणा कूपाद् वृक्षः, आहि–दक्षिणाहि ग्रामान्नदी इत्यादि। यहां दिक् शब्द के ग्रहण अञ्चूत्तरपद के उदाहरण भी सिद्ध हो जाते, फिर अञ्चूत्तरपद ग्रहण से इसलिये है कि आगे के सूत्र से षष्ठी विभक्ति प्राप्त है उस को बाध कर पञ्चमी ही हो जावे।

८५–षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन ॥ अ० २ । ३ । ३० ॥

अतसुच् प्रत्ययान्त शब्दों के अर्थों में वर्त्तमान जो अव्यय शब्द है, उस के योग में षष्ठी विभक्ति हो। जैसे–दक्षिणतो ग्रामस्य वाटिका, उपरि ग्रामस्य गोशाला इत्यादि। यहां ग्राम शब्द से षष्ठी विभक्ति हुई है।

८६–एनपा द्वितीया ॥ अ० २ । ३ । ३१ ॥

अतसर्थ प्रत्ययों में एनप् प्रत्यय के योग में पूर्व सूत्र से षष्ठी विभक्ति प्राप्त थी, उस का अपवाद यह सूत्र है कि एनप् प्रत्ययान्त अव्यय के योग में द्वितीया हो। जैसे–दक्षिणेन ग्रामं वृक्षाः इत्यादि। ग्राम से दाहिनी ओर वृक्ष का वन है।

८७–पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् ॥

अ० २ । ३ । ३२ ॥

पृथक्, विना, नाना, इन तीन अव्यय शब्दों के योग में विकल्प कर के तृतीया विभक्ति हो, पक्ष में पञ्चमी। जैसे—पृथक् स्थानेन, पृथक् स्थानात्; विना घृतेन, विना घृतात्; नाना पदार्थेन, नाना पदार्थात्। यहां जो सिद्धान्तकौमुदी में द्वितीया विभक्ति की अनु-

वृत्ति कर के उदाहरण दिये हैं, वे इसी सूत्र के महाभाष्य से विरुद्ध होने से अशुद्ध हैं।

८८—करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य ॥ अ० २ । ३ । ३३ ॥

करण कारक में वर्तमान जो अद्रव्य वाची स्तोक, अल्प, कृच्छ्र कतिपय शब्द उन से तृतीया और पञ्चमी विभक्ति हों। जैसे—स्तोकेन स्तोकाद् वा मुक्तः, अल्पेनाल्पाद्वा मुक्तः, कृच्छ्रेण कृच्छ्राद्वा मुक्तः, कतिपयेन कतिपयाद्वा मुक्तः इत्यादि, थोडे, किञ्चित्, कष्ट और कुछ दिनों में छूट गया। यहां असत्व वचन का ग्रहण इसलिये है कि "अल्पेन जलेन तृप्तः" थोड़े जल से तृप्त हुआ, इत्यादि में पञ्चमी विभक्ति न हो। यहां करण ग्रहण इसलिये है कि "अल्पं त्यजति" थोड़े को छोड़ता है इत्यादि में तृतीया पञ्चमी विभक्ति न हों।

८९—दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् ॥अ० २।३।३४॥

दूर और समीपवाची और इन के पर्यायवाची शब्दों के योग में विकल्प कर के षष्ठी और पक्ष में पञ्चमी हों। जैसे दूरं विप्रकृष्टं वा ग्रामस्य, दूरं विप्रकृष्टं वा ग्रामाद् वनम्; अन्तिकं समीपं वा ग्रामस्य ग्रामाद्वाऽऽरामाः इत्यादि। ग्राम के दूर जंगल और समीप बाग हैं। यहां विकल्प की अनुवृत्ति इसलिये है कि पक्ष में पञ्चमी विभक्ति हो जावे।

९०—दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च ॥ अ० २।३।३५ ॥

दूर और समीप वाची तथा इन के पर्याय शब्दों द्वितीया विभक्ति हो। चकार से विकल्प करके षष्ठी और पञ्चमी भी हो। दूरं दूरस्य दूराद्वा, विप्रकृष्टं विप्रकृष्टस्य विप्रकृष्टाद्वा ग्रामस्य पर्वताः, अन्तिकमन्तिकस्यान्तिकाद्वा ग्रामस्य शिरीषाः, समीपं समीपस्य समीपाद्वा ग्रामस्य वाटिकाः इत्यादि।

अथ अपादान संज्ञा में जो विशेष सूत्र हैं उन्हें लिखते हैं।

९१—भीत्रार्थानां भयहेतुः ॥ अ० १ । ४ । २५ ॥

जो भयार्थ और रक्षार्थ धातुओं के प्रयोग में भय का हेतु कारक है, उस की अपादान संज्ञा हो। जैसे—वृकेभ्यो बिभेति, वृकेभ्य उद्विजते; चोरेभ्यस्त्रायते, चोरेभ्यो रक्षति ❀ इत्यादि। भेड़ियों से डरता और चोरों से रक्षा करता है। यहां भय हेतु का ग्रहण इस लिये है कि "गृहे बिभेति, गृहे त्रायते" इत्यादि में पञ्चमी विभक्ति न हो।

९२—पराजेरसोढः ॥ अ० १ । ४ । २६ ॥

परापूर्वक जि धातु के प्रयोग में असोढ अर्थात् जिसको न सह सके वह कारक अपादान संज्ञक हो। जैसे—अध्ययनात् पराजयते, बलवतो धर्मात्मनो निर्बलोऽधर्मी पराजयते इत्यादि। यहां असोढ ग्रहण इसलिये है कि "शत्रून् पराजयते" इत्यादि में अपादान संज्ञा हो कर पञ्चमी न हो।

९३—वारणार्थानामीप्सितः ॥ अ० १ । ४ । २७ ॥

वारण उसको कहते कि कुछ काम करते हुए को वहां से हटा देना। वारणार्थक धातुओं के प्रयोग में जो अत्यन्त इष्ट कारण है उसको अपादान संज्ञा हो। जैसे—सस्येभ्यो गां वारयति, निवर्त्तयति, निषेधति वा इत्यादि। धान्य के खेतों से गौओं को हटाता है, इस कारण खेत अत्यन्त इष्ट हुए। यहां ईप्सित ग्रहण इसलिये है कि "गोष्ठे गां वारयति" इत्यादि में अपादान संज्ञा न हो।

❀ यहां वृक और चोर भय के हेतु हैं। इस कारण उनकी अपादान संज्ञा हो कर पञ्चमी विभक्ति होती है।

९४–अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति ॥ अ० १।४।२८ ॥

अन्तर्धि अर्थात् छिप जाने अर्थ में, जिस से ऐसी इच्छा करे कि मुझको वह न देखे वह कारक अपादान संज्ञक हो। जैसे—उपाध्यायाद् बालोऽन्तर्धत्ते इत्यादि। पढ़ाने हारे से लड़का छिपता है यहां अन्तर्धि ग्रहण इसलिये है कि "दुष्टान्न दिदृक्षते" इत्यादि में अपादान संज्ञा न हो। इच्छति ग्रहण इसलिये है कि देखने की इच्छा न हो और सामने से दिखाता हो तो भी अपादान संज्ञा न हो।

९५–आख्यातोपयोगे ॥ अ० १।४।२९ ॥

जो उपयोग अर्थात् नियमपूर्वक पढ़ने में पढ़ाने वाला कारक है उस की अपादान संज्ञा हो। उपाध्यायादधीते इत्यादि। वेतन लेने वाले से पढ़ता है। यहां उपयोग ग्रहण इसलिये है कि "नटस्य वचः शृणोति" इत्यादि में नियमपूर्वक विधान के न होने से अपादान कारक संज्ञा न हो।

९६–जनिकर्तुः प्रकृतिः ॥ अ० १।४।३० ॥

जन धातु का जो कर्ता उसकी प्रकृति अर्थात् जो कारण है वह अपादान सञ्ज्ञक हो। जैसे—अग्नेर्धूमो जायते, ॐ अव्यक्तात् कारणाद् व्यक्तं कार्यं जायते। अग्नि से धुंआ और सूक्ष्म अदृश्य नित्य-स्वरूप कारण से स्थूल, दृश्य, अनित्य रूप कार्य उत्पन्न होता है। यहां प्रकृतिग्रहण इसलिये है कि "पुत्रो मे गौरो जायते" इत्यादि में कारण की अपेक्षा न होने से अपादान संज्ञा नहीं होती ॥

९७–भुवः प्रभवः ॥ अ० १।४।३१ ॥

प्रभव उस को कहते हैं कि जहां से कोई पदार्थ उत्पन्न हुआ हो। जो भू धातु के कर्ता का प्रभव कारक है वह अपादान संज्ञक

ॐ यहां जन धातु का कर्ता धूम है, उसकी प्रकृति कारण अग्नि है। इससे उस की अपादान संज्ञा होकर पञ्चमी होती है।

हो। हिमवतो गङ्गा प्रभवति। हिमवान् पर्वत से गङ्गा उत्पन्न होती है। इसलिये हिमवान् शब्द की अपादान संज्ञा हो के पञ्चमी विभक्ति हुई है। अपादानकारक प्रकरण पूरा हुआ।

अब इस के आगे षष्ठी कारक[1] लिखेंगे, इस में संज्ञाप्रकरण नहीं है।

६–[शेषकारक]

९८–षष्ठी शेषे ॥ अ० २। ३। ५० ॥

भा०—कर्मादीनामविवक्षा शेषः। जहां कर्म आदि कारक संज्ञा की विवक्षा न हो वह शेष कहलाता है उस में षष्ठी विभक्ति हो। जैसे—राज्ञः पुरुषः, वृक्षस्य शाखाः, मृत्तिकाया घटः इत्यादि।

९९–ज्ञोऽविदर्थस्य करणे ॥ अ० २। ३। ५१ ॥

जो अविदर्थ अर्थात् अज्ञानार्थ ज्ञा धातु उस के करण कारक में षष्ठी विभक्ति होवे। जैसे—अग्निः सर्पिषो जानीते, ❀ मधुनो जानीते। अग्नि घी और शहद से प्रज्वलित होता है। यहां अविदर्थ ग्रहण इसलिये है कि "गौः स्वरेण वत्सं जानाति" इत्यादि में षष्ठी न हो।

१००–अधीगर्थदयेशां कर्मणि ॥ अ० २।३।५२ ॥

अधि पूर्वक स्मरण अर्थ वाला इक् इस के अर्थ के जो अन्य धातु तथा दय और ईश इन के अनभिहित कर्म में षष्ठी विभक्ति हो।

---

१. देखो भूमिका की हमारी टिप्पणी। यु० मी०।

❀ यहां सर्पिः घी और मधु शहद ज्ञा धातु के प्रयोग में साधकतम होने से करण है वहां तृतीया विभक्ति प्राप्त थी, उस का अपवाद यह षष्ठी का विधान किया है। परन्तु अर्थ तृतीया का ही बना रहता है। जैसे—घी और मधु से अग्नि बढ़ता है।

जैसे—अधीगर्थ—मातुरध्येति बालः, पितुः स्मरति बालः। दय—दुःखितस्य दयते। ईश—ग्रामस्येष्टे। यहां सर्वत्र द्वितीया प्राप्त थी उस की बाधक षष्ठी है। और कर्म ग्रहण इसलिये है कि "मातृगुणैः स्मरति बालः" यहां करणवाची गुण शब्द के होने से षष्ठी विभक्ति नहीं हुई।

१०१—कृञः प्रतियत्ने ॥ अ० २। ३। ५३ ॥

जो प्रतियत्न अर्थ में वर्तमान कृञ् धातु हो तो उस के शेष कर्म मे षष्ठी विभक्ति हो। जैसे—एधोदकस्योपस्कुरुते †। पाककर्ता इन्धन जल तथा अन्य सब भोजन की सामग्री समीप धर के पाक बनावे॥

१०२—रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः ॥अ०२।३।५४॥

यहां भाववचन शब्द से कर्तृस्थभावक रुजार्थ धातु समझे जाते हैं। जिन धातुओं के कर्त्ता में धातु का अर्थ रहता है, ऐसे रुजार्थक धातुओं में से ज्वर धातु को छोड के उन के शेष कर्म ‡ में षष्ठी हो। जैसे—चोरस्य रुजति, चोरस्यामयति इत्यादि। यहां रुजार्थ ग्रहण इसलिये है कि "ग्राम गच्छति" इत्यादि मे षष्ठी न हो और भाववचन ग्रहण इसलिये है कि "नदी कूलानि रुजति" यहां कर्मस्थ भावक रुज धातु के कर्म में षष्ठी न हो, और ज्वर धातु का निषेध इसलिये है कि "बाल ज्वरयति ज्वर." यहां कर्म में षष्ठी न हो।

१०३—वा०—अज्वरिसन्ताप्योरिति वक्तव्यम् ॥

अ० २। ३। ५४ ॥

जहां ज्वर धातु के कर्म मे षष्ठी का निषेध किया है, वहा सपूर्वक

---

† यहां प्रतियत्न अर्थ में ही कृञ धातु को सुट् का आगम कहा है। एधोदक शब्द कृञ धातु का कर्म है उस में द्वितीया प्राप्त है सो न हो।

‡ शेष कर्म के कहने से प्रयोजन यह है कि जिस कर्म में द्वितीया की विवक्षा न हो।

तापि धातु का भी समझना चाहिये। जैसे—चोरं सन्तापयति दुष्कर्म। यहां इस वार्तिक से षष्ठी का निषेध हो के द्वितीया हुई।

१०४–आशिषि नाथः ॥ अ० २। ३। ५५॥

जो आशीर्वचन अर्थ में वर्तमान नाथ धातु हो तो उस के शेष कर्मकारक में षष्ठी विभक्ति होवे। जैसे—सर्पिषो नाथते, मधुनो नाथते * यहां आशिष् शब्द से इच्छा ली जाती है। इसलिये कर्मवाची सर्पिस् शब्द में षष्ठी विभक्ति हुई। आशिषि ग्रहण इसलिये है कि "शत्रुं नाथते" यहां षष्ठी न हो।

१०५–जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् ॥ अ० २। ३। ५६॥

जासि धातु चुरादि गण का नि और प्र ये उपसर्ग साथ वा पृथक् २ पूर्व हों ऐसा हन, नाट, क्राथ, और पिष इन हिंसार्थक धातुओं के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति होवे। चोरस्योज्जासयति। यहां जासि धातु के चोर कर्म में षष्ठी। निप्रहण-चोरस्य निप्रहन्ति, चोरस्य निहन्ति, चोरस्य प्रहन्ति। नाट–असुरस्योन्नाटयति। क्राथ–दुष्टस्य क्राथयति। पिष–दस्योः पिनष्टि इत्यादि। यहां जासि आदि धातुओं का परिगणन इसलिये है कि "दुष्टं हिनस्ति" इत्यादि में षष्ठी न हो। और हिंसा ग्रहण इसलिये है कि "औषधं पिनष्टि" यहां हिंसा के न होने से षष्ठी न हुई।

१०६–व्यवहृपणोः समर्थयोः ॥ अ० २। ३। ५७॥

समानार्थक जो वि अव पूर्वक हृ और पण धातु इन के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो। जैसे—शतस्य व्यवहरति, शतस्य पणा-

---

* घी चाहता है, मीठा चाहता है, यहां घी और मीठा नाथ धातु के कर्म हैं यहां षष्ठी द्वितीया की बोध है।

यति इत्यादि। यहां समर्थ ग्रहण इसलिये है कि "विद्वांसं पणायति" यहां पण धातु स्तुति अर्थ में है। इस कारण से इस के कर्म में षष्ठी नहीं होती।

१०७–दिवस्तदर्थस्य ॥ अ० २ । ३ । ५८ ॥

व्यवहारार्थक दिवु धातु के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो। जैसे– शतस्य दीव्यति इत्यादि। सौ रुपये का व्यवहार करता है।

१०८–विभाषोपसर्गे ॥ अ० २ । ३ । ५९ ॥

उपसर्गपूर्वक व्यवहारार्थक दिवु धातु के शेष कर्म में विकल्प करके षष्ठी विभक्ति हो। शतस्य प्रदीव्यति, शत प्रदीव्यति। यहां षष्ठी के विकल्प से पक्ष में द्वितीया विभक्ति भी होती है।

१०९–द्वितीया ब्राह्मणे ॥ अ० २ । ३ । ६० ॥

ब्राह्मण ग्रन्थों में व्यवहारार्थ दिवु धातु के कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति हो। गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः। यहां गौ शब्द कर्मवाची है उसमें द्वितीया होती है। अनुपसर्ग दिवु धातु के कर्म कारक में नित्य षष्ठी विभक्ति प्राप्त है, सो द्वितीया ही हो इसलिये यह सूत्र है।

११०–प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासंप्रदाने ॥अ०२।३।६१॥

जो वह हविष् कर्म, देवता अर्थात् दिव्यगुण होने के लिये दिया जाता हो सो प्र पूर्वक दिवादिगण वाला इष धातु और ब्रू धातु इन के हविष् कर्म में ब्राह्मणग्रन्थ विषय में षष्ठी विभक्ति हो। जैसे— इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि ※। यहां हविष् कर्म है अन्य षष्ठ्यन्त पद उस के विशेषण हैं। यहां "छागं हविर्वपां मेद. प्रेष्य" ऐसा प्राप्त है सो इस सूत्र से षष्ठी विभक्ति हो गई।

※ मन्त्र का अर्थ खाने पीने की वस्तु के योग से बिजुली और अग्नि को उपयुक्त कर और सुनकर उपदेश भी कर।

यहां प्र पूर्वक इष और श्रु धातु का ग्रहण इसलिये है कि "अग्नये छागं हविषो मेदो जुहुधि" इत्यादि के कर्म में षष्ठी न हो। हविष्-ग्रहण इसलिये है कि 'अग्नये समिधः प्रेष्य' यहां समिध् कर्म में षष्ठी न हो। और देवतासम्प्रदान ग्रहण इसलिये है कि "बालाय पुरोडाशं प्रेष्य" यहां देवता के न होने से षष्ठी न हुई।

१११–वा०–हविषोऽप्रस्थितस्येति वक्तव्यम् ॥

अ० २ । ३ । ६१ ॥

सूत्र से जो हविष् कर्म में षष्ठी कही है सो प्रस्थित विशेषण हो तो न हो, किन्तु द्वितीया ही हो इन्द्राग्निभ्यां छागं हविर्वपां मेदः प्रस्थितं प्रेष्य। यहां प्रस्थित विशेषण के होने से षष्ठी न हुई।

११२–चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥ अ० २।३।६२॥

पूर्वसूत्रों में ब्राह्मण शब्द से ऐतरेय आदि वेद व्याख्यानों का ग्रहण होता है और यहां छन्दः शब्द से वेदों का ग्रहण होता है, इसलिये इस सूत्र में छन्द ग्रहण किया है। वेद विषय में चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति बहुल करके हो। जैसे—दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्। यहां "वनस्पतिभ्यः" ऐसा प्राप्त था।

११३–वा०–षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या ॥अ०२।३।६१॥

षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति कहनी चाहिये। या खर्वेण पिबति 'तस्यै' खर्वो जायते, तस्या खर्वो जायत इति प्राप्ते इत्यादि। यहां 'तस्यै' शब्द में षष्ठी के स्थान में चतुर्थी हुई है।

११४–यजेश्च करणे ॥ अ० २ । ३ । ६३ ॥

वेद विषयक यज धातु के करण कारक में बहुल करके षष्ठी विभक्ति हो। घृतस्य घृतेन वा यजते। यहां करण कारक में तृतीया विभक्ति प्राप्त था, सो उस का अपवाद होने से घृत शब्द में तृतीया और षष्ठी दोनों होती हैं।

११५—कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे ॥अ०२।३।६४॥

कृत्वसुच् और इस के समानार्थ प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों के प्रयोग में जो कालवाची अधिकरण वाचक शब्द हो तो उस से अधिकरण कारक में षष्ठी विभक्ति हो। यहां सप्तमी विभक्ति प्राप्त है उस का अपवाद यह सूत्र है। जैसे—दिवसस्य पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते बालः। एक दिन में यह बालक पांच बार खाता है। दिवसस्य द्विरधीते इत्यादि। एक दिन भर में दो बार पढ़ता है। यहां कृत्वोऽर्थप्रयोग ग्रहण इसलिये है कि "दिनमधीते, अयसः पात्रे भुङ्क्ते" इत्यादि में षष्ठी न हो। काल अधिकरण ग्रहण इसलिये है कि "काष्ठं द्विः करोति" इत्यादि में षष्ठी न हो।

११६—कर्तृकर्मणोः कृति ॥ अ० २ । ३ । ६५ ॥

कृदन्त संबन्धी कर्ता और कर्म कारक में षष्ठी विभक्ति हो। जैसे—देवदत्तस्य प्रज्ञा, देवदत्तस्येच्छा, पुरां भेत्ता, कूपस्य खनिता। कर्तृ कर्म ग्रहण इसलिये है कि "दात्रेण छेत्ता" इत्यादि में षष्ठी विभक्ति न हो। और कृत् ग्रहण इसलिये है "कृतपूर्वी कटम्" इत्यादि तद्धित के प्रयोग में षष्ठी न हो।

११७—उभयप्राप्तौ कर्मणि ॥ अ० २ । ३ । ६६ ॥

पूर्वसूत्र से कृत् युक्त कर्ता तथा कर्म में सर्वत्र षष्ठी प्राप्त है, उस का नियम करने के लिये यह सूत्र है। जिस कृदन्त के योग में कर्ता और कर्म दोनों में एक साथ षष्ठी प्राप्त हो वहाँ कर्म में षष्ठी और कर्ता में तृतीया हो। जैसे—ओदनस्य पाको देवदत्तेन। यहाँ ओदन कर्म में षष्ठी और अनभिहित के होने से देवदत्त कर्ता में तृतीया हो गई।

११८—वा०—अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे प्रतिषेधो न * ॥ २ । ३ । ६६ ॥

* यह वार्तिक "उभयप्रा०" इसी सूत्र का अपवाद है, क्योंकि इ प्रयोग

जो 'एवुल्' और 'अ' ये स्त्री प्रत्यय जिन के अन्त में हों उन शब्दों के प्रयोग में कर्ता में भी षष्ठी विभक्ति 'हो' अर्थात् दोनों में एक साथ हो जावे। जैसे—भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम्, चिकीर्षा विष्णुमित्रस्य कटस्य।

११९—वा०—शेषे विभाषा + ॥ २। ३। ६६ ॥

शेष कृदन्त स्त्री प्रत्यय के योग में कर्त्ता में विकल्प कर के षष्ठी विभक्ति हो। और कर्म में तो सूत्र ही से नित्य विधान है। जैसे—शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः, शोभना खलु पाणिनिना सूत्रस्य कृतिः इत्यादि।

१२०—क्तस्य च वर्तमाने ‡ ॥ अ० २। ३। ६७ ॥

जो वर्तमान काल में क्त प्रत्ययान्त शब्द है उस के संबन्ध में षष्ठी विभक्ति हो। जैसे—राज्ञां मतः, राज्ञां बुद्धः, राज्ञां पूजितः। यह विद्वान् राजाओं का मान्य, जाना और सत्कृत है। यहां क्त ग्रहण इसलिये है कि "गुरु भजमानः" यहां कर्म में षष्ठी न हो और वर्तमान ग्रहण इसलिये है कि "ग्रामं गतः" यहां भूतकाल के होने से षष्ठी न हो।

में सामान्य कर के जो षष्ठी का विधान है उस को नियत विषय में दृढ़ करता है।

+ यह अप्राप्त विभाषा यों समझनी चाहिये कि शेष स्त्री प्रत्यय के योग में कर्तृवाची शब्द से किसी सूत्र कर के षष्ठी प्राप्त नहीं, प्रत्युत "उभयप्रा०" (का० ११७) इस से कर्म का नियम होने से कर्ता का निषेध तो है।

‡ क्त प्रत्यय की निष्ठा संज्ञा होने से आगे "न लोका०" (का०१२३) इस सूत्र कर के षष्ठी का निषेध प्राप्त है। इसलिये यह सूत्र उस का पुरस्तात् अपवाद है।

१२१—वा०—क्तस्य च वर्तमाने नपुंसके भाव उपसंख्यानम् * २ । ३ । ६७ ॥

जो नपुंसक भाव में क्तप्रत्ययान्त है उस के कर्ता में षष्ठी विभक्ति हो। जैसे—छात्रस्य हसितम्, नटस्य भुक्तम्, मयूरस्य नृत्तम्, इत्यादि। विद्यार्थी का हसना, नट का भोजन, मोर का नाचना देखो।

१२२—अधिकरणवाचिनश्च ॥ अ० २ । ३ । ६८ ॥

अधिकरणवाची क्त प्रत्ययान्त के योग में कर्ता में षष्ठी विभक्ति हो। जैसे—इदमेषामासितम्, इदमेषां यातम् †।

१२३—न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् ॥अ०२।३।६९॥

जो कृदन्त के योग से कर्म में षष्ठी प्राप्त है, उसी विषय का यह सूत्र निषेध करता है, इसलिये उसी का अपवाद है। (ल) (उ) (उक) (अव्यय) (निष्ठा) (खलर्थ) और (तृन्)। इन कृत् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में कर्म में षष्ठी विभक्ति न हो। (ल) अर्थात् जो लकार के स्थान में तिङ्, शतृ, शानच्, कानच्, क्वसु, कि, किन् आदि आदेश होते हैं। जैसे—तिङ्-देवदत्त ओदनं पचति, देवदत्तेनौदनः पच्यते, ग्रामं गच्छति, ग्रामो गम्यते। इत्यादि। 'शतृ-ओदनं पचन्। शानच्-ओदनं पचमानः। कानच्-सूर्य्यंमुभयतो ददृशानः। क्वसु-सोमं पपिवान्। कि किन्-दद्रिर्गाः। इत्यादि।

---

* पूर्वसूत्र में वर्तमान के कहने से नपुंसक भाव में प्राप्ति नहीं, इसलिये यह भी वार्त्तिक "न लोका०" (का० १२३) इसी वक्ष्यमाण सूत्र का अपवाद समझना ठीक है।

† 'आसितम्' बैठने का स्थान और 'यातम्' चलने का मार्ग है। 'एषां' यह कर्ता में षष्ठी है और यह सूत्र भी "न लोका०" (का० १२३) इसी अगले सूत्र का अपवाद है।

उ–कटं चिकीर्षुः, ग्रामं जिगमिषुः, विद्यां पिपठिषुः इत्यादि। उकञ्–सत्यं प्रतिपादुकः। अव्यय–ग्रामं गत्वा। ओदनं भुक्त्वा। निष्ठा–क्त और क्तवतु प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी न हो। देवदत्तेन कृतं पयः। कटं कृतवान्। खलर्थ–ईषद्भोज ओदनो भवता, ईषत्पानं पयो भवता। तृन् प्रत्याहार से शानन्, चानश्, शतृ, तृन् इन चार प्रत्ययान्तों का ग्रहण होता है। शानन्—सोमं पवमानः। चानश्–पतङ्गान्निघ्नान.। शतृ–विद्यां धारयन्। तृन्–लविता यवान्, पठिता वेदान्। इत्यादि।

१२४–वा०–उकप्रतिषेधे कमेर्भाषायामप्रतिषेधः॥ ※
२।३।६९॥

वेद से अन्य आर्ष वेदानुकूल ग्रन्थों को भाषा कहते हैं जो उक प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी का निषेध किया है वहां उक प्रत्ययान्त भाषा विषयक कम धातु के प्रयोग में निषेध न हो, किन्तु षष्ठी विभक्ति हो जावे। जैसे—दास्याः कामुकः। वृषल्याः कामुकः। दासी और वृषली वेश्या से भोग की इच्छा वाला इत्यादि।

१२५–वा०–अव्ययप्रतिषेधे तोसुन्कसुनोरप्रतिषेधः ※॥
२।३।६९॥

जो अव्यय के योग में षष्ठी का निषेध किया है, वहां तोसुन् और कसुन् प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी का निषेध न हो। जैसे—तोसुन्–पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः। कसुन्–पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन् इत्यादि।

※ ये दोनों वार्तिक इसी सूत्र के विषय में निषेध का निषेध करके षष्ठी के विधायक हैं। इसलिये "न लोका०" इस के अपवाद हैं।

१२६—वा०—द्विषः शतुर्वावचनम् * ॥२।३।६९॥

द्विष धातु से शतृ प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी विभक्ति विकल्प करके हो। जैसे—चोरस्य द्विषन्, चोरं द्विषन्। तृन् प्रत्याहार में शतृ प्रत्यय के होने से निषेध प्राप्त था। उसका विकल्प करने के लिये यह तीसरा वार्त्तिक है।

१२७—अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः ॥ अ० २।३।७० ॥

अक और इन् प्रत्ययान्त शब्द के कर्म में षष्ठी विभक्ति न हो।

१२८—वा०—अकस्य भविष्यतीन आधमर्ण्ये च † ॥
२ । ३ । ७० ॥

अकान्त के योग में भविष्यत् काल और इन के योग में आधमर्ण्य तथा भविष्यत् काल अर्थ लगते हैं। जैसे—यवान् लावको व्रजति। यहां अक के योग में केवल भविष्यत् ही है और "ग्राम गमी" यहां इन्नन्त के योग में भविष्यत्काल में और "शतं दायी" "सहस्रं दायी" यहा आधमर्ण्य है। इत्यादि। यहां भविष्यत् और आधमर्ण्य में निषेध इसलिये है कि "यवाना लावकः" यहा षष्ठी का निषेध न हो, किन्तु षष्ठी हो जावे।

१२९—कृत्यानां कर्तरि वा ॥ अ० २ । ३ । ७१ ॥

कृत्य प्रत्ययान्त के कर्ता में विकल्प करके षष्ठी और पक्ष में तृतीया होवे। जैसे—ब्राह्मणेन ब्राह्मणस्य वा पठितव्यम्, देवदत्तेन

* इस वार्तिक में अप्राप्त विभाषा इसलिये है कि "न लोका०" (का० १२३) इससे सर्वथा षष्ठी का निषेध हो चुका है, उस का यह विकल्प से विधान करता है।

† यह भी वार्तिक "कर्तृकर्म०" [का० ११६] इसी का अपवाद है। क्योंकि कर्म में षष्ठी इसी से प्राप्त है।

देवदत्तस्य वा आसितव्यम् इत्यादि। यहां कर्तरि ग्रहण इसलिये है कि "वक्तव्यः श्लोकः" यहां कर्म में षष्ठी न हो। इस सूत्र में महाभाष्यकार ने योग विभाग करके दो अर्थ किये हैं। एक उभयप्राप्त कृत्य प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी न हो। जैसे—ग्रामम्आकष्टव्या शाखा देवदत्तेन इत्यादि। दूसरा कृत्य प्रत्यय के योग में कर्ता में षष्ठी विकल्प करके हो। इसके उदाहरण सूत्र की व्याख्या में लिख चुके हैं।

१३०—तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् ॥

अ० २। ३। ७२॥

पूर्वसूत्र में विकल्प ग्रहण था फिर दूसरी बार करने का प्रयोजन यह है कि यहां कर्ता की अनुवृत्ति न आवे। तुल्य और इस के पर्यायवाची शब्दों के योग में कर्म में विकल्प करके तृतीया और पक्ष में षष्ठी विभक्ति हो, तुला और उपमा शब्द को छोड़ के। जैसे—तुल्यः सदृशो वा देवदत्तेन देवदत्तस्य वा विष्णुमित्रः, इत्यादि। यहां तुला और उपमा शब्द का निषेध इसलिये है कि "तुलोपमा वा परमात्मनो नास्ति" यहां परमात्मा शब्द से तृतीया न हुई, शेष के होने से षष्ठी हो गई।

१३१—चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः ॥

अ० २। ३। ७३॥

जो आशीर्वचन अर्थ में वर्तमान आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ और हित हैं इन शब्दों के योग में विकल्प करके चतुर्थी और पक्ष में षष्ठी विभक्ति होवे। जैसे—[आयुष्य-] आयुष्यं शिष्याय शिष्यस्य वा, मद्र-मद्रं बालाय बालस्य वा, भद्र-भद्रं पुत्राय पुत्रस्य वा, कुशल-कुशलं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा, सुख-सुखं पण्डिताय पण्डितस्य वा। अर्थ-अर्थो देवदत्ताय देवदत्तस्य वा, हित-हितं माणवकाय माणवकस्य वा इत्यादि। यहां आशीर्वचन ग्रहण इसलिये

है कि "आयुष्यमस्य ब्रह्मचर्यम्" इत्यादि में चतुर्थी विभक्ति न हो।

यह शेष कारक पूरा हुआ।

[७–अधिकरणकारक]

१३२–आधारोऽधिकरणम् ॥ अ० १ । ४ । ४५ ॥

जिस में पदार्थ धरे जाते हैं वह आधार कहाता है। सो एक की अपेक्षा में दूसरा आधार बन जाता है। परिपूर्ण परमेश्वर में पहुँच के समाप्ति हो जाती है। जो आधार कारक है वह अधिकरण संज्ञक हो। इसका फल—

१३३–सप्तम्यधिकरणे च ॥ अ० २ । ३ । ३६ ॥

अधिकरण तीन प्रकार का होता है। इसको प्रमाण सहित पूर्व लिख चुके हैं[1]। अधिकरण में और चकार से दूरवाची तथा समीपवाची शब्दों से भी सप्तमी विभक्ति होवे। जैसे—व्यापक—दधिघृतम्, तिलेषु तैलम् ❀ इत्यादि। औपश्लेषिक–कटे शेते, खट्वायां शेते। पीठ आस्ते † इत्यादि। वैषयिक–खे शकुनयः, श्रोत्रे शब्दो विषयते ‡ इत्यादि। आकाश के विषय [होने से] यहां ख शब्द में सप्तमी विभक्ति हुई है। अब आगे वार्त्तिक लिखेंगे।

---

१. ग्रन्थ के प्रारम्भ में उपक्रम प्रकरण में पृष्ठ ४। यु० मी०

❀ दही और तिलों के सब अवयवों में घी और तेल व्याप्त रहता है इस कारण इस को व्यापक कहते हैं।

† चटाई, खटिया और आसन पर बैठने वाले का उससे अति निकट सम्बन्ध होता है, इसलिये इस अधिकरण को औपश्लेषिक कहते हैं।

‡ पक्षियों के उड़ने का विषय आकाश और कान का विषय शब्द है, इस कारण यह वैषयिक अधिकरण कहाता है।

१३४—वा०—सप्तमीविधाने क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम् ॥ अ० २ । ३ । ३६ ॥

क्त प्रत्ययान्त शब्द से जहां इन प्रत्यय होता है वहां कर्म कारक में सप्तमी विभक्ति हो। जैसे—अधीती व्याकरणे *, परिगणिती याज्ञिके इत्यादि।

१३५—वा०—साध्वसाधुप्रयोगे च † ॥२ । ३ । ३६॥

साधु और असाधु शब्द के प्रयोग में भी सप्तमी विभक्ति हो। जैसे—साधुर्देवदत्तो मातरि, असाधव आर्येषु दस्यवः इत्यादि।

१३६—वा०—कारकार्हाणां च कारकत्वे ॥२।३।३६॥

जहां कारक अपने कृत्य को ठीक ठीक प्राप्त हों वहां उनसे सप्तमी विभक्ति हो। जैसे—ऋद्धेषु भुञ्जानेषु दरिद्रा आसते इत्यादि। संपन्न पुरुष अच्छे अच्छे पदार्थ भोगते और दरिद्र बैठे देखते हैं।

१३७—वा०—अकारकार्हाणां चाकारकत्वे ॥२।३।३६॥

जहां अयोग्य कारक अपनी अयोग्यता को ठीक २ प्राप्त हों वहां सप्तमी विभक्ति हो। मूर्खेष्वासीनेषु ब्रह्मा भुञ्जते, वृषलेष्वासीनेषु ब्राह्मणास्तरन्ति इत्यादि। यहां मूर्ख और वृषल अपनी अयोग्यता को प्राप्त होते हैं, उन्हीं में सप्तमी हुई।

१३८—वा०—तद्विपर्यासे च ॥ २ । ३ । ३६ ॥

और जहां इन कर्मों के बदलने में अर्थात् अच्छों को बुरों की योग्यता और बुरों को अच्छों की योग्यता हो वहां पूर्व प्रयुक्त शब्दों

* यहां अधीत शब्द क्त प्रत्ययान्त इन् विषयक है उस के कर्म व्याकरण शब्द में सप्तमी होती है।

† यहां से जो वार्तिक हैं, वे किसी के अपवाद नहीं, किन्तु अपूर्व विधायक हैं। क्योंकि वहां किसी सूत्र वा वार्तिक से सप्तमी प्राप्त नहीं है।

में सप्तमी हो जैसे—ऋद्धेष्वासीनेषु मूर्खा भुञ्जते, ब्राह्मणेष्वासीनेषु वृषलास्तरन्ति इत्यादि।

१३९—वा०—निमित्तात् कर्मसंयोगे ॥ २ । ३ । ३६ ॥

कर्म संयोग में जिस निमित्त के लिये वह कर्म किया जाता है उन निमित्तवाची शब्दों से सप्तमी विभक्ति हो। जैसे—

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः॥

(चर्मणि०) चर्म के लिये गैंडे को मारता है (दन्त०) दांतों के लिये हाथी को मारता है (केशेषु०) केशों के लिये चमरी अर्थात् जङ्गली सुरा गौ को मारता है और (सीम्नि पुष्कलको०) कस्तूरी की चाहना करके कस्तूरिया मृग को मारता है, इस कारण चर्म आदि शब्दों से सप्तमी विभक्ति हो जाती है *।

१४०—यस्य च भावेन भावलक्षणम् ॥अ०२।३।३७॥

जिस क्रिया से क्रिया का लक्षण किया जाय उस में सप्तमी विभक्ति हो। जैसे—गोषु दुह्यमानासु गतो दुग्धास्वागतः †। यहां भावेन ग्रहण इसलिये है कि "यो जटिलः स भुङ्क्ते" इत्यादि में सप्तमी न हो।

१४१—षष्ठी चानादरे ॥ अ० २ । ३ । ३८ ॥

अनादर अर्थ में जिस क्रिया से क्रिया का लक्षण किया जाय वहां षष्ठी विभक्ति और चकार से सप्तमी भी हो। जैसे—रुदत·

* गैंडे आदि को मारे बिना चाम आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर ढाल आदि वस्तु कैसे बनें, इस कारण चाम आदि उन के मारने में निमित्त हैं।

† यहां दोहनकर्म से गमन क्रिया का लक्षण किया जाता है, इस से दोहन क्रिया में सप्तमी हुई।

मानस्याहूयमाने वा गतः। आहूयमान अर्थात् बुलाते हुए का तिरस्कार करके चला गया। यहां आहूयमान शब्द में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हुई हैं।

१४२–स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च † ॥ अ० २। ३। ३९॥

स्वामिन्, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू और प्रसूत इन शब्दों के योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हों। जैसे—स्वामिन्-गवां स्वामी, गोषु स्वामी। ईश्वर-पृथिव्या ईश्वरः, पृथिव्यामीश्वरः। अधिपति-ग्रामस्याधिपतिः, ग्रामेऽधिपतिः। दायाद-क्षेत्रस्य क्षेत्रे वा दायादः। साक्षिन्-देवदत्तस्य देवदत्ते वा साक्षी। प्रतिभू-धनस्य धने वा प्रतिभूः। प्रसूत-गवां प्रसूतः, गाषु प्रसूतः। इस सूत्र में स्वामिन् आदि शब्दों के योग में शेष कारक के होने से सर्वत्र षष्ठी प्राप्त थी, सो सप्तमी भी हो जावे इसलिये यह सूत्र है।

१४३–आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् ॥अ०२।३।४०॥

जो आसेवा अर्थ में वर्तमान आयुक्त और कुशल शब्द हैं, उनके योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हो। जैसे—आयुक्तः पठनस्य पठने वा, कुशलो लेखनस्य लेखने वा। यहां आसेवा ग्रहण इसलिये है कि "आयुक्तो वृषभः शकटे" इत्यादि में षष्ठी न हो। अधिकरण में सप्तमी तो प्राप्त ही थी, षष्ठी होने के लिये यह सूत्र है।

१४४–यतश्च निर्धारणम् ॥ अ० २। ३। ४१ ॥

जो समुदायवाची जाति आदि शब्दों से एक का पृथक् करना है उसको निर्धारण कहते हैं जिससे निर्धारण अर्थात् किसी को

† यह चकार षष्ठी और सप्तमी दोनों विभक्तियों का आकर्षण होने के लिये है

पृथक् किया जावे उस से षष्ठी, सप्तमी विभक्ति हों। जैसे—ब्राह्मणानां ब्राह्मणेषु वा देवदत्तः। श्रेष्ठतम, इससे यहां ब्राह्मण शब्द में षष्ठी, सप्तमी हो गई।

१४५—पञ्चमी विभक्ते ॥ अ० २। ३। ४२॥

पूर्व सूत्र से निर्धारण अर्थ में षष्ठी, सप्तमी विभक्ति प्राप्त है। उसका अपवाद यह सूत्र है। निर्द्धारण में जिसका विभाग किया जाय उसमें पञ्चमी विभक्ति हो। जैसे—पाटलिपुत्रेभ्यः सांकाश्या आढ्यतराः। इत्यादि जो पूर्वसूत्र से निर्द्धारण होता है वह समुदाय से एक ही का पृथक् भाव समझना और इस सूत्र से एक से दूसरे का विभाग होता है[1]।

१४६—साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः ॥

अ० २। ३। ४३॥

जो पूजा अर्थात् सत्कारपूर्वक सेवा करने अर्थ में वर्त्तमान साधु और निपुण शब्द हों तो इन के प्रयोग में सप्तमी विभक्ति होवे, परन्तु प्रति के योग में इस अर्थ में भी न हो। जैसे—मातरि साधुः, पितरि साधुः, मातरि निपुणः, पितरि निपुणः इत्यादि। यहां अर्चा ग्रहण इसलिये है कि "साधुर्देवदत्तस्य पुत्रः" इत्यादि में न हो जाय। प्रति का निषेध इसलिये है कि "साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति" यहां प्रति के योग में सप्तमी न हो।

---

१. इसका अभिप्राय यह है कि सजातीयों में किसी को पृथक् करने में पूर्व (१४४) सूत्र की प्रवृत्ति होती है, और जहां सर्वदा पार्थक्य रहता है वहां भेद दिखाने के लिये इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यद्यपि पाटलिपुत्र और सांकाश्य के रहने वाले प्राणिरूप से एक जाति के हैं, तथापि पाटलिपुत्र और सांकाश्य के भेद से उनका सदा ही भेद रहता है। जहां भेद अभेद दोनों होता है, वहां पूर्वसूत्र (१४४) की प्रवृत्ति होती है। यु०मी०

१४७–वा०–अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् ॥
अ० २ । ३ । ४३ ॥

जो प्रति के योग में सप्तमी का निषेध किया है सो प्रति आदि अन्य शब्दों के योग में भी समझा जावे। जैसे—साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति, मातरमनु, इत्यादि के योग में भी सप्तमी विभक्ति न हो।

१४८–प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च ॥अ०२।३।४४॥

जो अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति प्राप्त है उसका अपवाद यह सूत्र है। प्रसित और उत्सुक शब्दों के योग में तृतीया और सप्तमी विभक्ति हों। जैसे—स्त्रीं केशेषु वा प्रसित, मात्रा मातरि वा प्रसित, सत्येन सत्ये वा प्रसित। प्रसित कहते हैं जो उस में अतिप्रसक्त हो। गानेन गाने वोत्सुक। उत्सुक कहते हैं जो किसी को प्राप्त करने की इच्छा कर रहा हो।

१४९–नक्षत्रे च लुपि ॥ अ० २ । ३ । ४५ ॥

यहां उस नक्षत्रवाची शब्द का ग्रहण है कि जहां काल अर्थ में प्रत्यय का लुप हो जाता है। लुबन्त नक्षत्र से तृतीया और सप्तमी विभक्ति हों। जैसे—पुष्येण पुष्ये वा कार्यमारभेत इत्यादि। पुष्य नक्षत्र जिस दिन हो उस दिन कार्य का आरम्भ करे।

अब जो अधिकरण संज्ञा के विशेष सूत्र हैं, सो लिखते हैं—

१५०–अधिशीङ्स्थासां कर्म ॥ अ० १ । ४ । ४६ ॥

अधिकरण संज्ञा का अपवाद यह सूत्र है जो अधिपूर्वक शीङ्, स्था और आस धातु का आधार कारक है वह कर्म संज्ञक हो। कर्मकारक में द्वितीया कह चुके हैं। जैसे—खट्वामधिशेते, भूमिमधिशेते। खाट और भूमि में सोते हैं। जैसे—सभामधितिष्ठति, सभामध्यास्ते। सभा में बैठा है। यहां अधि उपसर्ग का ग्रहण इसलिये है कि "खट्वायां शेते, सभायामास्ते" इत्यादि में न हो।

१५१—अभिनिविशश्च ॥ अ० १ । ४ । ४७ ॥

यहां मण्डूकप्लुतगति मान के "परिक्रयणे०" (का० ५३) इस सूत्र से विकल्प की अनुवृत्ति आती है। जो अभि और नि पूर्वक विश धातु का आधार कारक है वह विकल्प करके कर्म संज्ञक हो, पक्ष में अधिकरण संज्ञा हो जावे। यह कर्मप्रवचनीय गति और उपसर्ग संज्ञा का अपवाद है। न्याय्यापवादविषयमुत्सर्गोऽभिनिविशते, न्याय्यापवादविषय उत्सर्गोऽभिनिविशते। यहां अपवाद विषय शब्द से कर्म संज्ञा पक्ष में द्वितीया और अधिकरण-संज्ञा पक्ष में सप्तमी विभक्ति हो जाती है। तथा—सन्मार्गमभिनिविशते, सन्मार्गेऽभिनिविशते इत्यादि।

१५२—उपान्वध्याङ्वसः ॥ अ० १ । ४ । ४८ ॥

यह सूत्र भी अधिकरण संज्ञा का अपवाद है। जो उप, अनु, अधि और आङ्, उपसर्ग पूर्वक वस धातु का आधार कारक है वह कर्म संज्ञक हो। पर्वतमुपवसति, अनुवसति, अधिवसति, आवसति वा, ग्राममुपवसति, अनुवसति, अधिवसति, आवसति वा इत्यादि। पर्वत और ग्राम के समीप वा उन के बीच में वास करता है।

यह अधिकरण कारक का प्रकरण और ये सातों कारक पूरे हुए। अब इस के आगे कर्मप्रवचनीय का प्रकरण लिखेंगे, क्योंकि यह भी कारक से ही सम्बन्ध रखता है।

१५३—कर्मप्रवचनीयाः ॥ अ० १ । ४ । ८३ ॥

यहां से आगे कर्मप्रवचनीय का अधिकार है।

संज्ञा करने का प्रयोजन यही है कि थोड़े अक्षरों के कहने से बहुत अर्थ समझा जावे। जैसे—हाथी, पर्वत, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि के कहने से बड़े बड़े अर्थ समझे जाते हैं।

(प्रश्न) कर्मप्रवचनीय इतनी बड़ी संज्ञा क्यों की ?

(उत्तर) भा०—अन्वर्था संज्ञा यथा विज्ञायते, कर्म प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीया । जिस से यौगिक संज्ञा समझी जावे । जो शब्द क्रिया को कह चुका हो उस को कर्मप्रवचनीय कहते हैं ।

१५४–कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ॥ अ० २।३।८ ॥

जहां जहां कर्मप्रवचनीय शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति हैं वहां वहां इसी सूत्र से होवे । जैसे—शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् इत्यादि । यहां संहिता शब्द से द्वितीया विभक्ति हुई है ।

१५५–अनुर्लक्षणे ॥ अ० १ । ४ । ८४ ॥

इस सूत्र में लक्षण शब्द हेतु का वाची है । उस हेतु अर्थ में तृतीया विभक्ति थी, उसका अपवाद होने के लिये इस सूत्र का आरम्भ है । नहीं तो (लक्षणेत्थं०) इस आगे के सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा सिद्ध ही थी । जो लक्षण अर्थ में वर्तमान अनु शब्द हो तो वह कर्मप्रवचनीय संज्ञक हो । जैसे—शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत इत्यादि । यहां संहिता शब्द में द्वितीया हुई है ।

१५६–तृतीयार्थे ॥ अ० १ । ४ । ८५ ॥

जो तृतीया विभक्ति के अर्थ में वर्त्तमान अनु शब्द है उस की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जैसे—नदीमनुगच्छन्ति तृणानि । नदी के जल के साथ तृण चलते हैं, इत्यादि यहां भी नदी शब्द से द्वितीया विभक्ति हुई ।

१५७–हीने ॥ अ० १ । ४ । ८६ ॥

इस सूत्र में हीन शब्द छोटे का वाची है । सो एक की अपेक्षा में एक छोटा और बड़ा होता ही है, जो हीन अर्थ में वर्तमान अनु हो तो उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो । जैसे—अनु यास्कं नैरुक्ताः, अनु गोतमं नैयायिकाः, अनु शाकटायनं वैयाकरणा । यहां यास्क

आदि शब्दों की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उन शब्दों से द्वितीया विभक्ति होती है।

१५८–उपोऽधिके च ॥ अ० १ । ४ । ८७ ॥

जो अधिक और चकार से हीन अर्थ में भी वर्तमान उप शब्द हो तो उस की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो। इस का फल—

१५९–यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी ॥ अ० २ । ३ । ९ ॥

द्वितीया विभक्ति का अपवाद यह सूत्र है। जिससे अधिक और जिस का ईश्वर वचन अर्थात् बहुतों के बीच में अधिक सामर्थ्य कहना हो वहां कर्मप्रवचनीय शब्दों के योग में सप्तमी विभक्ति हो जैसे-प्रजायामुप राजा *। अधिक ग्रहण इसलिये है कि-उप शाकटायनं वैयाकरणाः †। यहां न हो इत्यादि।

१६०–अपपरी वर्जने ॥ अ० १ । ४ । ८८ ॥

वर्जन कहते हैं निषेध को। जो वर्जन अर्थ में वर्तमान अप और परि शब्द हैं वे कर्मप्रवचनीय संज्ञक हों।

१६१–आङ् मर्यादावचने ॥ अ० १ । ४ । ८९ ॥

मर्यादा उस को कहते हैं कि यहां तक यह वस्तु है। उस का कहना, मर्यादा वचन कहाता है, जो मर्यादा वचन अर्थ में वर्तमान आङ् शब्द है, उस की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो। इन दोनों का फल—

---

* यहां प्रजा के बीच राजा का अधिक सामर्थ्य है इसलिये उप की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उस के योग में प्रजा शब्द से सप्तमी विभक्ति हुई है।

† शाकटायन से अन्य वैयाकरण न्यून हैं। यहां अधिक अर्थ के न होने से द्वितीया ही होती है।

और स्मरण आप ने किया। यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्गकार्य षत्व नहीं हुवा। पूजा ग्रहण इसलिये है कि "सुषिक्तं किं त्वया" क्या तूने अच्छा सींचा, इत्यादि में कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती।

१६६—अतिरतिक्रमणे च ॥ अ० १ । ४ । ९५ ॥

जो अतिक्रमण अर्थात् उल्लङ्घन और पूजा अर्थ में वर्तमान अति शब्द हो तो वह कर्मप्रवचनीय संज्ञक होवे। जैसे—अतिक्रमण—अतिसिक्तमेव भवता। ठीक २ नहीं सींचा किन्तु कीच कर दी। पूजा—अतिसेवितो गुरुस्त्वया। तू ने गुरु की अति सेवा की। यह पूजा कहाती है। इसका फल यह है कि षत्व का निषेध हो जाता है[1]। यहां इन दो अर्थों का ग्रहण इसलिये है कि 'सुष्टुतं मया'। कोई अभिमान करता है कि मैंने बड़ी अच्छी स्तुति की, इत्यादि में कर्मप्रवचनीय संज्ञा के न होने से षत्व का निषेध न हुआ।

१७०—अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु ॥
अ० १ । ४ । ९६ ॥

जो पदार्थ, संभावना, अन्ववसर्ग, गर्हा और समुच्चय इन पांच अर्थों में वर्तमान पद उसके योग में अपि शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो। जैसे—सर्पिषोऽपि स्यात्। कुछ घृत भी होना चाहिये। सम्भावना = सम्भव होना—अपिसिञ्चेद् वृक्षशतम्। सम्भव है कि यह मनुष्य सौ वृक्ष तक सींच सके। अन्ववसर्ग = आज्ञा करना—अपिसिञ्च। तू सींच। गर्हा = निन्दा करना—धिक् ते जन्म यत्पाषाणमपि स्तौषि। तेरे मनुष्यजन्म को धिक्कार है, जो तू पत्थरों की भी

1. कर्मप्रवचनीय संज्ञा उपसर्ग संज्ञा की बाधक है, उपसर्ग संज्ञा न होने से षत्व नहीं होता। यु० मी०।

स्तुति करता है। समुच्चय क्रियाओं का इकट्ठा होना अपिसेवस्व, अपिस्तुहि। सेवन भी कर स्तुति भी कर। इन सब अर्थों में अपि शब्द की उपसर्ग संज्ञा न होने के लिये कर्मप्रवचनीय संज्ञा की है जिससे उक्त प्रयोगों में मूर्द्धन्य षकार न हो जावे। यहां पदार्थादि अर्थों का ग्रहण इसलिये है कि "अपिकृत्य" इत्यादि में कर्मप्रवचनीय संज्ञा होके ल्यप् का निषेध न हो।

१७१—अधिरीश्वरे ॥ अ० । १ । ४ । ९७ ॥

इस सूत्र में ईश्वर शब्द से समर्थ मनुष्य का ग्रहण समझना चाहिये। जो ईश्वर अर्थ में वर्तमान अधि शब्द है उसकी कर्मप्रवचीय संज्ञा हो। अधिग्रामे क्षत्रियः, यह क्षत्रिय ग्राम में समर्थ अर्थात् उसका अधिष्ठाता है। यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा के होने से ❀ सप्तमी विभक्ति हो जाती है। यहां ईश्वर ग्रहण इसलिये है कि "खट्वामधिशेते" यहां कमप्रवचनीय संज्ञा के नहीं होने से द्वितीया विभक्ति हुई है।

१७२—विभाषा कृञि ॥ अ० १ । ४ । ९८ ॥

जो कृञ् धातु के प्रयोग में युक्त अधि शब्द हो तो वह विकल्प करके कर्मप्रवचनीय संज्ञक हो। अधिकृत्वा अधिकृत्य, यहां जिस पक्ष में कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है वहां † समास के न होने से

❀ (सप्तमी विभक्ति) यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी। यह सूत्र पूर्व पृष्ठ (संख्या १५९) लिख आये हैं।

† जहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है, वहां गति संज्ञा नहीं होने पाती, उसके न होने से "गतिश्च" [अष्टा० १ । ४ । ५९] इससे समास भी नहीं होता, समास के न होने से "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" [भा० १५६२] इससे ल्यप भी नहीं होता।

क्त्वा के स्थान में ल्यप् नहीं होता। और जिस पक्ष में कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती, उसमें समास हो के क्त्वा के स्थान में ल्यप् आदेश हो जाता है, इसके अन्य भी बहुत प्रयोजन हैं।

इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीव्याख्याकृतोऽष्टाध्याय्यां कारकीयोऽयं ग्रन्थः समाप्तः॥

वसुरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे नभस्यस्यासिते दले।
अष्टम्यां बुधवारेऽयं ग्रन्थः पूर्तिं गतः शुभः॥

संवत् १९३८ भाद्र वदी बुधवार के दिन यह कारकीय ग्रन्थ श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने पूरा किया।

॥ ओ३म् ॥

आर्यसमाज के नियम

१—सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें॥

॥ ओ३म् ॥

अथ वेदांगप्रकाशः

सामासिकः

प्रकाशक—
आर्य साहित्य मण्डल लि०, अजमेर.

॥ ओ३म् ॥

अथ वेदाङ्गप्रकाशः

★ तत्रत्यः पञ्चमो भागः ★

सामासिकः

❀ पाणिनीयाष्टाध्याय्यां चतुर्थो भागः ❀

श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतव्याख्यासहितः ।

श्रीपण्डितयुधिष्ठिरमीमांसकेन संशोध्य
टिप्पणीभिरलङ्कृतः



पठनपाठनव्यवस्थायां सप्तमं पुस्तकम्

प्रकाशक—
आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर

प्रथमावृत्ति १००० | संवत् २०११ दयानन्दाब्द १३१ | मूल्य ॥=) आने

विषय सूची

मुद्रक—
चिरीनाथचन्द्र शिवहरे एम० ए०
दी फ़ाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर.

अथ सामासिक भूमिका

समास उसे कहते हैं कि जिसमें अनेक पदों को एक पद में जोड़ देना होता है। जब अनेक पद मिल के एक पद हो जाता है तब पद और एक स्वर होता है। पर [यह] समासविद्या के जाने विना कुछ विदित नहीं हो सकता। इसलिये समासविद्या अवश्य जाननी चाहिये।

समास चार प्रकार का होता है

एक अव्ययीभाव, दूसरा तत्पुरुष, तीसरा बहुव्रीहि और चौथा द्वन्द्व। अव्ययीभाव में पूर्वपदार्थ, तत्पुरुष में उत्तरपदार्थ, बहुव्रीहि में अन्य पदार्थ और द्वन्द्व में उभय अर्थात् सब पदों के अर्थ प्रधान रहते हैं। जिसका अर्थ मुख्य हो वही प्रधान कहाता है।

अव्ययीभाव के दो भेद होते हैं। एक पूर्वपदाव्ययीभाव दूसरा उत्तरपदाव्ययीभाव। तत्पुरुष नव प्रकार का होता है। द्वितीया तत्पुरुष, तृतीया तत्पुरुष, चतुर्थी तत्पुरुष, पञ्चमी तत्पुरुष, षष्ठी तत्पुरुष, सप्तमी तत्पुरुष, द्विगु, नञ् और कर्मधारय। बहुव्रीहि दो प्रकार का है। एक तद्गुणसंविज्ञान, दूसरा अतद्गुणसंविज्ञान। द्वन्द्व भी तीन प्रकार का होता है। एक इतरेतरयोग, दूसरा समाहार और तीसरा एकशेष[1]।

---

1. वस्तुतः एकशेष द्वन्द्व समास का भेद नहीं है, क्योंकि द्वन्द्व समास का विधान अष्टाध्यायी के द्वितीयाध्याय के द्वितीय पाद में किया है और एकशेष का समास प्रकरण से बाहर प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद

इस प्रकार से ४ समासों के १६ सोलह भेद समझने योग्य हैं।। और इनमें से अव्ययीभाव, तत्पुरुष और बहुव्रीहि लुक् और अलुक् भेद से दो दो प्रकार के होते हैं। इनके उदाहरण आगे आवेंगे। इन समासों को यथार्थ जानने से सर्वत्र मिले हुए पद, पदार्थ और वाक्यार्थ जानने में अति सुगमता होती है और समस्त पदयुक्त संस्कृत बोलना तथा दूसरे का कहा समझ भी सकता है। यह भी व्याकरण विद्या की अवयव विद्या है जैसी कि सन्धि विषय और नामिक विद्या लिख आये। यहां जो पठनपाठन के लिये एक उदाहरण वा प्रत्युदाहरण लिखा है इसे देख इसके समान अन्य उदाहरण और प्रत्युदाहरण भी ऊपर से पढ़ने पढ़ाने चाहियें।

इसके आगे प्रकृत जो कुछ लिखा जाता है वह सब "समर्थः पदविधिः" इस सूत्र के भाष्यस्थ वचन हैं जिसको [विशेष] जानने की इच्छा हो वह उक्त सूत्र के महाभाष्य में देख लेवे। "सापेक्षमसमर्थं भवतीति" जो एक पद के साथ अपेक्षा करके युक्त हो वह समर्थ होता है और जो अनेक पदों के साथ आकर्षित होता है वह प्रायः समास के योग्य नहीं होता। जो सापेक्ष असमर्थ होता है ऐसा कहा जावे तो "राजपुरुषो दर्शनीयः" यहां वृत्ति प्राप्त न होगी। यह दोष नहीं, क्योंकि यहां प्रधान सापेक्ष है, प्रधान सापेक्ष का भी समास होता है अतः जहां प्रधान सापेक्ष है वहां वृत्ति अर्थात् समास होगा। [यदि प्रधान सापेक्ष का समास होता है तो जहां अप्रधान (गौण) सापेक्ष होगा वहां समास नहीं होगा। यथा—] देवदत्तस्य गुरुकुलम्। यह दोष नहीं, यहां षष्ठी गुरुकुल समुदाय की अपेक्षा करती है। [यदि] जहां षष्ठी समुदाय की अपेक्षा

में। परन्तु द्वन्द्व और एकशेष दोनों के विग्रह में चकार की समानता होने से एकशेष को द्वन्द्व के साथ पढ़ा है। यु० मी०।

नहीं करती वहां समास भी नहीं होता तो "किमोदनः शालीनाम्" (यह कौन से शाली अर्थात् चावलों का ओदन है ऐसे अर्थ में) किम् का ओदन के साथ समास प्राप्त नहीं होगा इसलिये—

वा०--स विशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणं न प्रयुज्यत इति वक्तव्यम् ॥

अनेक विशेषण युक्त विशेष्य का समास और समस्त का विशे-षण के साथ योग होता नहीं। सविशेषण जैसे 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः' यहां राजा का विशेषण ऋद्ध होने से पुरुष के साथ राजन् शब्द का समास नहीं होता। वृत्त = राजपुरुषः इस समस्त राजन् शब्द के साथ ऋद्ध विशेषण का योग भी नहीं हो सकता *।

समास समर्थों का होता है। समर्थ किसको कहते हैं? पृथक् पृथक् अर्थ वाले पदों के एकार्थीभाव को। यहां अगले वाक्यों में पृथक् पृथक् अर्थ वाले पद हैं। जैसे—राज्ञः पुरुषः। इस वाक्य में "राज्ञः" और "पुरुषः" ये दोनों पद अपने अपने अर्थ के प्रतिपादन करने में समर्थ हैं, और समास होने से इनका एकार्थीभाव हो जाता है। यथा–राजपुरुष इत्यादि प्रयोगों मे समास कृत क्या विशेष

* अर्थात् वही असमर्थ होता है कि जिसका सम्बन्ध अनेक पदों के साथ हो। जैसे राजन् शब्द का सम्बन्ध ऋद्ध और पुरुष के साथ होने से समास न हुआ, वैसे सर्वत्र समझना चाहिये। और जहां अर्थ की प्रतीति होती है वहां तो सविशेषण और वृत्त का भी विशेषण के साथ योग होता है। जैसे 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' यहां कुल के साथ समास और देवदत्त का सम्बन्ध भी हो गया।

है। विभक्ति का लोप[१] अव्यवधान[२] यथेष्ट परस्पर असम्बन्ध[३] एक स्वर[४] एक पद[५] और एक विभक्ति[६] रहती है।

एकार्थीभाव पक्ष में समर्थ पद का अर्थ—संगतार्थः समर्थः, संसृष्टार्थः समर्थः इति। जैसे 'संगतं घृतम्' ऐसा कहने से मिला हुआ अर्थ विदित होता है। वैसे 'संसृष्टोऽग्निरिति' ऐसा कहने से भी उक्त ही अर्थ विदित होता है। और जहां व्यपेक्षा सामर्थ्य होता है वहां "संप्रेक्षितार्थः समर्थः" और "संबद्धार्थः समर्थः" इति यहां अनेक पदों का सम्बन्धमात्र प्रयोजन है इस व्यपेक्षा में अनेक पद अनेक स्वर अनेक विभक्ति वर्त्तमान रहती हैं। इसलिये समास विद्या को समझ लेना सब मनुष्यों को अत्यन्त उचित है।

इति भूमिका

---

१. जैसे वाक्य में 'राज्ञः पुरुषः' में पृथक् पृथक् विभक्ति होती है वैसे समास में नहीं होती। मध्य की विभक्ति का लोप होता है। २. जैसे वाक्य में 'राज्ञः भद्रस्य पुरुषः' में बीच में 'भद्रस्य' का व्यवधान है वैसे समास में नहीं होता। ३. वाक्य में परस्पर यथेष्ट सम्बन्ध होता है—'राज्ञः पुरुषः, पुरुषो राज्ञः' वैसा समास में नहीं होता। समास में नियम से राज का पूर्व प्रयोग होता है। ४. वाक्य में 'राज्ञः पुरुषः' दोनों पदों का पृथक् पृथक् स्वर होता है, समास में दोनों का एक स्वर हो जाता है। ५. वाक्य में 'राज्ञः पुरुषः' दो पद होते हैं, समास में 'राजपुरुषः' एक पद बन जाता है। ६. वाक्य में पृथक् पृथक् पद होने से विभक्ति भी पृथक् पृथक् होती है, समास में एक विभक्ति होती है।

ओ३म्

अथ सामासिकः

अथ सामासिकः* प्रारभ्यते। तत्र समासाश्चत्वारः—प्रथमोऽव्ययीभावः, द्वितीयस्तत्पुरुषः, तृतीयो बहुव्रीहिः, चतुर्थश्च द्वन्द्वः।

१—समर्थः पदविधिः † ॥ २ । ३ । १ ॥

‡ समर्थपदयोरयं विधिशब्देन सर्वविभक्त्यन्तः समासः। समर्थस्य विधिः समर्थविधिः, समर्थयोर्विधिः समर्थविधिः, समर्थानां विधिः समर्थविधिः, समर्थाद् विधिः समर्थविधिः, समर्थे विधिः समर्थविधिः। पदस्य विधिः पदविधिः, पदयोर्विधिः पदविधिः, पदानां विधिः पदविधिः, पदाद् विधिः पदविधिः, पदे विधिः पदविधिः। समर्थविधिश्च समर्थविधिश्च [समर्थविधिश्च] समर्थविधिश्च समर्थविधिश्च समर्थविधयः। पदविधिश्च पदविधिश्च [पदविधिश्च] पदविधिश्च पदविधिश्च

---

* समासानां व्याख्यानो ग्रन्थः सामासिकः। जिस ग्रन्थ समासों की व्याख्या हो उसका नाम सामासिक है।

† यह सूत्र एक पद और अनेक पदों के सम्बन्ध में साधुत्व विधायक है।

‡ जो यह आगे व्याख्या लिखी जाती है वह सब महाभाष्य की है।

पदविधय. । समर्थविषयश्च पदविषयश्च समर्थ. पदविधिः । पूर्वः समास उत्तरपदलोपी यादृच्छिकी च विभक्ति. । सामर्थ्यं द्विविधम्—एकार्थीभाव व्यपेक्षा च ।

यह महाभाष्य का वचन है। जिसमें भिन्न २ पदों का एकपद, अनेक स्वरों का एकस्वर, अनेक विभक्तियों की एक विभक्ति हो जाती है, उसको एकार्थीभाव और एकपद का अनेक पदों के साथ सम्बन्ध होने को व्यपेक्षा कहते हैं। सो [एकार्थीभाव सामर्थ्य समास में और व्यपेक्षा सामर्थ्य] प्रत्ययविधान और पराङ्गवद्भाव में जाननी चाहिये। समास का प्रयोजन यह है कि अनेक पदों का एकपद, अनेक विभक्तियों की एक विभक्ति और अनेक स्वरों का एक स्वर होना। "वृत्तिस्तर्हि कस्मान्न भवति—महत्कष्ट श्रित इति। सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषण न प्रयुज्यत इति"। यहां महत् शब्द विशेषण और कष्ट विशेष्य है। फिर विशेषण सहित जो कष्ट है सो श्रित के साथ समास को प्राप्त नहीं होता और जो समास कर भी लें तो भी कष्ट का श्रित के साथ विशेषण का योग नहीं हो सकता। यहां वृत्ति नाम समास का है॥१॥ इस सूत्र के उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण आगे कहेंगे।

२–सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे ॥ २ । १ । २ ॥

जो आमन्त्रित पद परे हो तो पूर्व सुबन्त को पराङ्गवद्भाव स्वर विधि करने में होवे, अर्थात् आमन्त्रित पद का जो स्वर है वही पूर्व सुबन्त का स्वर हो जावे। सम्बोधन पद के परे सुबन्त पूर्व पद के स्थान में पराङ्गवत् अर्थात् सम्बोधन पद का जो स्वर है वही स्वर हो जाता है। कुण्डेनाटन्, परशुना वृश्चन्, मद्राणां राजन्, कश्मीराणां राजन्, मगधानां राजन्। सुबिति किम्—पीड्ये पीड्यमान। आमन्त्रित इति किम्—गेहे गार्ग्य। परमङ्गण किम्–पूर्वस्य माभूत्,

देवदत्तस्य कुण्डेनाटन्। स्वर इति किम्–कूपे सिञ्चन्, चर्मे[1] नमन्। षत्वणत्वं प्रति पराङ्गवन्न भवति।

३–सुबन्तस्य पराङ्गवद्भावे समानाधिकरणस्योपसंख्यानमनन्तरत्वात् ॥ २ । १ । २ ॥

जैसे—तीक्ष्णया सूच्या सीव्यन्, तीक्ष्णेन परशुना वृश्चन्।

४–वा०–अव्ययानां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

उच्चैरधीयान। नीचैरधीयान॥

५–प्राक् कडारात् समासः ॥ २ । १ । ३ ॥

जो इस सूत्र से आगे "कडाराः कर्मधारये"[2] यह सूत्र है वहां तक समास का अधिकार जानना योग्य है।

६–सह सुपा ॥ २ । १ । ४ ॥

सहग्रहणं योगविभागार्थम्। सह सुप् समस्यते। केन सह? समर्थेन। अनुव्यचलत्, अनुविशत्। ततः सुपा–[सुपा] च सह सुप् समस्यते। अधिकारश्च लक्षणं च। यस्य समासस्यान्यल्लक्षणं नास्ति, इदं तस्य लक्षणं भविष्यति। उदाहरणम्—अजाकृपाणीयम्। पुनरुत्स्यूतं वासो देयम्, पुनर्निष्कृतो रथः। ऐसा जानना कि जिस [समास] का विधायक कोई सूत्र न होवे उस समास की सिद्धि करने वाला यह सूत्र है। यहां से आगे तीन पद का अधिकार है। सो ये हैं—सुप्, सह और सुपा।

७–वा०–इवेन सह समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च वक्तव्यम्।

जैसे—वाससीइव, कन्येइव।

८–अव्ययीभावः ॥ २ । १ । ५ ॥

---

[1] अकारान्त चर्म शब्द जानना। [2] सा० ३३०। पृ० मी०।

यहां से आगे जो समास कहेंगे, उसकी अव्ययीभाव संज्ञा जानना चाहिये। पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः। अव्ययीभाव समास में पूर्वपद का अर्थ प्रधान होता है।

९—अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययाऽसम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसंपत्तिसाकल्याऽन्तवचनेषु ॥ २ । १ । ६ ॥

विभक्ति से लेके अन्त शब्द पर्यन्त १६ (सोलह) अर्थ हैं उनमें वर्तमान जो अव्यय है सो सुबन्त के साथ समास पावें, वह अव्ययीभाव संज्ञक हो। वचन शब्द का विभक्ति आदि सबके साथ योग जानना। विभक्ति—स्त्रीष्वधिकृत्य कथा प्रवर्त्तते [अधि स्त्री, अधि-कुमारी यहां] 'अव्ययीभावश्च' (अष्टा० २।४।१८ ॥ सामा० ३२४) इस सूत्र से नपुंसक लिङ्ग होता है।

१०—ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य ॥ १ । २ । ४७ ॥

जो नपुंसक लिङ्ग अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक हो तो उसके अच् को ह्रस्व हो। अधिस्त्रि, अधिकुमारि इत्यादि। नपुंसक इति किम्—ग्रामणीः, सेनानीः। प्रातिपदिकस्येति किमर्थम्—काण्डे तिष्ठतः, कुड्ये तिष्ठतः।

["कृत्तद्धितसमासाश्च" (ना० ४) से प्रातिपदिक संज्ञा और स्वादि की उत्पत्ति होकर—अधिस्त्रि-सु-

११—अव्ययीभावश्च ॥ १ । १ । ५५ ॥

अव्ययीभावसमास की अव्यय संज्ञा होती है। अव्यय संज्ञा होकर—

१२—अव्ययादाप्सुपः ॥ २ । ४ ॥

अव्यय संज्ञक से परे आप् सुप् का लोप होता है। सुप् लोप

होकर—अधिहरि।] समीपवचने—कुम्भस्य समीपम् उपकुम्भम्, उपमणिकम्, उपशालम्। [सुप् का लुक् प्राप्त होने पर—]

१३–नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः ॥२।४।८३॥

अदन्त अव्ययीभाव समास से सुप् का लुप् न हो, किन्तु उसको अम् आदेश हो जाय पंचमी को वर्ज के। जैसे—उपराजम्, अधिराजम्, "अनश्च" [सा० ३५] इति टच्। उपमणिकं तिष्ठति, उपमणिकं पश्य, उपकुम्भं पश्यति। अपञ्चम्या इति किम्-उप कुम्भादानय।

१४–तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् ॥ २ । ४ । ८४ ॥

अदन्त अव्ययीभाव समास से तृतीया और सप्तमी को अम् आदेश बहुल करके हो, अर्थात् पक्ष में लुक् हो। जैसे उपकुम्भं कृतम्, उपकुम्भेन कृतम्, उपकुम्भं निधेहि, उपकुम्भे निधेहि।

समृद्धि—मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम्, सुमगधं वर्तते। व्यृद्धि = ऋद्धि का न होना—गवदिकानामृद्धेरभावः दुर्गवदिकम्, दुर्यवनम् वर्तते। अर्थाभाव = वस्तु का अभाव—मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम्, निर्मशकम् वर्तते। अत्ययः = नाशः—अतीतानि हिमानि यं समयं निर्हिमम, निःशीतं वर्तते। असम्प्रति अर्थात् इस समय न हो। संप्रति क्षुत्रास्ति अतिक्षुधम्, अतितैसृकम्। शब्दप्रादुर्भाव = शब्द का प्रकाश होना। [इति पाणिनि, तत्पाणिनि। पश्चात्—] रथानां पश्चात्–अनुरथं पादातम्। योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्तिः सादृश्यं चेति यथार्थाः। अनुरूपम्, यह रूप के योग्य है। [वीप्सा-] अर्थमर्थं प्रतीति प्रत्यर्थम्। पदार्थानतिवृत्ति—यथाशक्ति, यथाबलमित्यादि। आनुपूर्व्यम्—अनुक्रमम्, अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः। यौगपद्य = एककालम्—सचक्रं धेहि, युगपच्चक्रं धेहीत्यर्थः। सादृश्य = नाम समान-सदृशः सख्या ससखि। संपत्तिः अच्छे प्रकार प्राप्ति—मद्राणः

संपत्तिः सब्रह्म, सधनम् देवदत्तस्य। साकल्य नाम सब—तुषेण सह भुङ्क्ते सतुषम्, सबुसम्। अन्तवचन—

१५–ग्रन्थान्ताधिके च ॥ ६ । ३ । ७९ ॥

जो ग्रन्थ उत्तर पद परे हो तो ग्रन्थान्त में तथा अधिक अर्थ में वर्तमान जो सह शब्द है उसको स आदेश हो। सज्योतिषमधीते, समुहूर्त्तम्, ससमहं व्याकरणमधीते, सभाष्यम्, साग्न्यधीते ॥ अधिके—सद्रोणा खारी, समाष काषोपण।

१६–अव्ययीभावे चाकाले ॥ ६ । ३ । ८२ ॥

अव्ययीभाव समास में कालवाची भिन्न उत्तरपद परे हो तो सह को स आदेश हो। सचक्रम्, सबुसम्। अकाल इति किम्—सह पूर्वाह्णम्।

१७–यथा सादृश्ये ॥ २ । १ । ७ ॥

जो सादृश्य भिन्न अर्थ में अव्यय सो सुबन्त के संग समास को प्राप्त हो, सो समास अव्ययीभाव सञ्ज्ञक हो। यथावृद्धं ब्राह्मणानामन्त्रयस्व, ये ये वृद्धाः यथावृद्धम्, यथाऽध्यापकम्। असादृश्य इति किम—यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्त।

१८–यावदवधारणे ॥ २ । १ । ८ ॥

जो अवधारण अर्थ में वर्तमान अव्यय सो सुबन्त के संग समास पावे, [सो अव्ययीभाव संज्ञक हो]। यावदमत्र ब्राह्मणानामन्त्रयस्व, यावन्त्यमत्राणि सम्भवन्ति पंच षड् वा तावत आमन्त्रयस्व। अवधारण इति किम्—यावद्दत्तं तावद्भुक्तम्, नावधारयामि कियन्मया भुक्तमिति।

१९–सुप्प्रतिना मात्रार्थे ॥ २ । १ । ९ ॥

मात्रा बिन्दुः स्तोकमल्पमिति पर्यायाः। जो मात्रार्थ में वर्तमान

प्रति उसके साथ सुबन्त समास पावे, सा अव्ययीभाव संज्ञक हो। अस्त्यत्र किञ्चिच्छाक–शाकप्रति, सूपप्रति, ओदनप्रति। मात्रार्थे इति किम्—वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्। सुबिति वर्तमाने पुनः सुब्ग्रहण-मव्ययनिवृत्त्यर्थम्।

२०–अक्षशलाकासंख्याः परिणा ॥ २ । १ । १० ॥

जो अक्ष, शलाका और संख्यावाची शब्द एक द्वि त्रि इत्यादि परि के साथ समास को प्राप्त हों, वह अव्ययीभाव संज्ञक समास है। अक्षेण परिक्रीडन्त इति अक्षपरि, शलाकापरि, एकपरि, द्विपरि, त्रिपरि।

२१–अक्षशलाकयोश्चैकवचनान्तयोरिति वक्तव्यम् ॥ २ । १ । १० ॥

इह माभूत्—अक्षाभ्यां वृत्तमशुभं वृत्तम्।

२२–वा०–कितवव्यवहार इति वक्तव्यम् ॥२।१।१०॥

इह माभूत्—अक्षेणेदं न तथा वृत्तं शकटेन तथा पूर्वमिति।

२३–विभाषा ॥ २ । १ । ११ ॥

अधिकार। इसके आगे जो जो समास कहेंगे सो सो विभाषा करके होंगे अर्थात् पक्ष में विग्रह भी रहेगा। जहां जहां वि०[1] ऐसा संकेत करें वहां वहां विकल्प जानना।

२४–अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या ॥ २ । १ । १२ ॥

जो अप परि बहिस् और अञ्चु का सुबन्त के साथ समास विकल्प करके होता है वह अव्ययीभाव कहाता है। जैसे–अपत्रिगर्तं वृष्टो देवः, अप त्रिगर्तेभ्यो वा, [परित्रिगर्तम्, परि त्रिगर्तेभ्यो वा]

---

१. इस ग्रन्थ में जहां जहां 'वि०' ऐसा संकेत था, वहां वहां सुगमता के लिए हमने पाठ पूरा कर दिया है। यु० मी०।

ग्रामाद् बहिर्वहिर्ग्रामम्, बहिर्ग्रामात्। बहिश्शब्दयोगे पञ्चमीभावस्यैतदेव ज्ञापकम्। [प्राग्ग्रामं, प्राग्ग्रामाद्वा]।

२५-आङ्मर्यादाभिविध्योः ॥ २ । १ । १३ ॥

जो मर्यादा और अभिविधि अर्थ में आङ् पञ्चम्यन्त सुबन्त के सङ्ग विकल्प करके समास को प्राप्त होता है, सो समास अव्ययीभाव सञ्ज्ञक होवे। [मर्यादा—] पाटलिपुत्रं वृष्टो देवः, आपाटलिपुत्रात्। अभिविधि—आकुमारं यशः पाणिनेः, आकुमारेभ्यः।

२६-लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये ॥ २ । १ । १४ ॥

जो आभिमुख्य अर्थ हो तो लक्षण अर्थात् चिह्नवाची सुबन्त के साथ अभि और प्रति विकल्प करके समास का प्राप्त हों, वह अव्ययीभाव समास हो। जैसे-अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति, अग्निमभि, प्रत्यग्नि, अग्निं प्रति। आभिमुख्ये किम्—स्रुघ्नं प्रति गतः।

२७-अनुर्यत्समया ॥ २ । १ । १५ ॥

समया नाम समीपता। जिसके समीप को अनु कहता हो उसी लक्षणवाची सुबन्त के साथ विकल्प करके समास पावे, सो अव्ययीभाव सञ्ज्ञक हो। जैसे—अनुवनमशनिर्गतः, अनुवृक्षम्। अनुरिति किम्-वनं समया। यत्समयति किम्-वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्।

२८-यस्य चायामः ॥ २ । १ । १६ ॥

आयामो दैर्घ्यम्। जिसके लम्बेपन को अनु कहता हो उसी लक्षणवाची सुबन्त के सङ्ग विकल्प करके समास पावे, सो अव्ययीभाव सञ्ज्ञक हो। अनुगङ्गं वाराणसी, अनुयमुनं मथुरा। यमुनाऽऽयामेन मथुराऽऽयामो लक्ष्यते। आयाम इति किम्-वृक्षमनुविद्योतते विद्युत्।

२९-तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च ॥ २ । १ । १७ ॥

जो तिष्ठद्गु आदि शब्द निपातन किये हैं वे अव्ययीभाव संज्ञक हों। तिष्ठद्गु कालविशेषः। जैसे–तिष्ठन्ति गावा यस्मिन् काले दोहनाय स तिष्ठद्गु कालः, वहद्गु, आयतीगवम्।

३०–वा०–खलेयवादीनि प्रथमान्तान्यन्यपदार्थे समसन्त इति वक्तव्यम्।

जैसे—खलेयवम्, खलेबुसम्, लूनयवम्, लूयमानयवम्, पूतयवम्, संहितयुसम्, संह्रियमाणबुसम्। पत्ते कालशब्दाः। समभूमि, समपदाति, सुषमम्, विषमम्, निष्षमम्, दुष्षमम्, अपसमम्, [आयतीसम्] प्राह्णम्, प्ररथम्, प्रमृगम्, प्रदक्षिणम्, अपरदक्षिणम्, सम्प्रति, असंप्रति, पापसमम्, पुण्यसमम्। इच् कर्म व्यतिहारे। दण्डादण्डि, मुसलामुसलि, नखानखि।

३१–पारे मध्ये षष्ठ्या वा ॥ २ । १ । १८ ॥

जो पार और मध्य शब्द षष्ठ्यन्त सुबन्त के सङ्ग विकल्प करके समास पावें, सो समास अव्ययीभाव संज्ञक हो। और एकारान्त निपातन भी किया है। जैसे—पारं गङ्गायाः पारेगङ्गम्, मध्यं गङ्गायाः मध्येगङ्गम्। षष्ठीसमास पक्षे—गङ्गापारम्, गङ्गामध्यम्। यहां फिर "वा" ग्रहण का प्रयोजन यह है कि पक्ष में षष्ठी समास हो के वाक्य भी रह जावे। जैसे—गङ्गाया पारम्, गङ्गाया मध्यम्।

३२–संख्या वंश्येन ॥ २ । १ । १९ ॥

जो वंश्यवाची सुबन्त के साथ संख्यावाची सुबन्त विकल्प करके समास पावे, सो अव्ययीभाव संज्ञक हो। जैसे—द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ द्विमुनि व्याकरणस्य *, त्रिमुनि व्याकरणस्य †।

---

* दो मुनि अर्थात् पाणिनि और पतञ्जलि।

† तीन मुनि अर्थात् पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि।

३३-नदीभिश्च ॥ २ । १ । २० ॥

जो सङ्ख्यावाची सुबन्त नदीवाची सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त होवें सो अव्ययीभाव सञ्ज्ञक हों। जैसे—सप्तगङ्गम्, द्वियमुनम्, पञ्चनदम्, सप्तगोदावरम्।

३४-अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ॥ ५ । ४ । १०७ ॥

अव्ययीभाव समास में शरत् आदि प्रातिपदिकों से टच् प्रत्यय होवे। जैसे—शरदः समीपम् उपशरदम्, प्रतिशरदम्, उपविपाशम्, प्रतिविपाशम्। अव्ययीभाव इति किम्—परमशरत्।

३५-अनश्च ॥ ५ । ४ । १०८ ॥

अन् जिसके अन्त में हो उस सुबन्त से टच् प्रत्यय हो। जैसे—राज्ञः समीप उपराजम्, आत्मनि अधि इति अध्यात्मम्, प्रत्यात्मम्।

३६-नपुंसकादन्यतरस्याम् ॥ ५ । ४ । १०९ ॥

अन्नन्त नपुंसक सुबन्त से अव्ययीभाव समास में समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प करके हो। चर्म चर्म प्रति इति प्रतिचर्मम, प्रतिचर्म, उपचर्मम्, उपचर्म।

३७-नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः ॥५।४।११०॥

नदी, पौर्णमासी, आग्रहायणी, ये तीन प्रातिपदिक जिनके अन्त में हों, उन समस्त समुदायों से अव्ययीभाव समास में समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प करके हो। जैसे—नद्याः समीप उपनदम्, उपनदि; उपपौर्णमासम्; उपाग्रहायणम्, उपाग्रहायणि।

३८-झयः ॥ ५ । ४ । १११ ॥

झय् प्रत्याहार जिसके अन्त में हो उस सुबन्त से अव्ययीभाव समास में समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प करके हो। जैसे—उपसमिधम्, उपसमित्, उपदृषदम्, उपदृषत्; अधिक्षुधम्, अधिक्षुत्।

३९–गिरेश्च सेनकस्य ॥ ५ । ४ । ११२ ॥

सेनक आचार्य के मत मे गिरि शब्दान्त प्रातिपदिक से अव्ययीभाव समास में समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प करके हो। जैसे—अन्तर्गिरम्, अन्तर्गिरि; उपगिरम्, उपगिरि। अव्ययीभाव समास मे इतने समासान्त प्रत्यय होते हैं।

४०–अन्यपदार्थे च सञ्ज्ञायाम् ॥ २ । १ । २१ ॥

जो संज्ञा हो तो अन्य पदार्थ मे वर्तमान जो सुबन्त सो नदीवाची सुबन्त के साथ समास पावे। जैसे—उन्मत्तगङ्गं नाम देशः, लोहितगङ्गं नाम देशः, कृष्णगङ्गं नाम देशः; शनैर्गङ्गं नाम देशः। अन्य पदार्थे इति किम्—कृष्णवेरणा। संज्ञायामिति किम्—शीघ्रगङ्गो देशः।

इत्यव्ययीभावः समासः समाप्तः ॥

अथ तत्पुरुषः

४१–तत्पुरुषः ॥ २ । १ । २२ ॥

यहां से लेके बहुव्रीहि समास से पूर्व पूर्व तत्पुरुष समास का अधिकार है। उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः। तत्पुरुष समास में उत्तरपद का अर्थ प्रधान होता है।

४२–द्विगुश्च ॥ २ । १ । २३ ॥

द्विगु समास भी तत्पुरुष संज्ञक होता है। द्विगोस्तत्पुरुषत्वे समासान्ताः प्रयोजनम्।

* ४३-समासान्ताः ॥ ५ । ४ । ६८ ॥

* यह समासान्त का प्रकरण (क्रमाङ्क ४३-७५) तत्पुरुष समास के अन्त में अर्थात् क्रमाङ्क १९९ के अनन्तर होना चाहिये। यु० मी०।

अव जो प्रत्यय कहेंगे वे समासान्त होंगे अर्थात् उनका समास के ही साथ ग्रहण किया जायगा। जैसे—पञ्चराजी[1], दशराजी; पञ्चराजम्[1], दशराजम्; द्व्यहः, त्र्यहः, पञ्चगवम्, दशगवम्।

४४–गोरतद्धितलुकि ॥ ५ । ४ । ९२ ॥

तद्धितलुक् को वर्ज के गो शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय हो। जैसे—परमगवः, उत्तमगवः, पञ्चगवम्। अतद्धितलुकीति किम्। पञ्चभिर्गोभिः क्रीतः पञ्चगुः, दशगुः। तद्धितग्रहणं किम्—सुब्लुकि प्रतिषेधो माभूत्। जैसे—राजगवमिच्छति राजगवीयति। लुग्ग्रहणं किम्—तद्धित एव माभूत्, पञ्चभ्यो गोभ्य आगतं पञ्चगवरूप्यम्, पञ्चगवमयम्।

४५–ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ॥ ५ । ४ । ७४ ॥

जो अक्षसम्बन्धी अर्थ न हो तो ऋक्, पुर्, अप्, धुर् और पथिन् ये जिनके अन्त में हों उन प्रातिपदिकों से समासान्त अकार प्रत्यय हो। जैसे—अविद्यमाना ऋक् यस्मिन् सोऽनृचो ब्राह्मणः, बह्वृचः; ब्राह्मणपुरम्, नान्दीपुरम्; द्विर्गता आपो यस्मिन् तद् द्वीपम्, अन्तरीपम्, समीपम्; राज्ञो धूः राजधुरा, महाधुरा; देवपथ, जलपथः। अनक्ष इति किम्-अक्षस्य धूः अक्षधूः। दृढधूरक्षः।

४६–अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः ॥५।४।७५॥

१, वार्तिककार ने "अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते" (महा० २ । ४ । ३०) के नियम से "द्विगो." (स्त्रै० ४५) से ङीप् किया है। महाभाष्यकार ने "द्विगुश्च" (महा० २ । १ । २२) सूत्र पर "पञ्चराजम्, दशराजम्" उदाहरण दिये हैं। इससे प्रतीत होता है कि महाभाष्यकार को यहां "पात्रादिभ्यः प्रतिषेधः" (महा० २ । ४ । ३०) वार्तिक से स्त्रीत्व का अभाव मानते हैं। ग्रन्थकार ने यहां दोनों प्रकार के उदाहरण देकर दोनों पक्ष दर्शा दिये हैं। यु० मी०।

जो प्रति, अनु और अव पूर्वक सामन् और लोमन् प्रातिपदिक हों तो उनसे समासान्त अच् प्रत्यय हो। [जैसे-] प्रतिसामम, अनुसामम्, अवसामम्, प्रतिलोमम्, अनुलोमम्, अवलोमम्।

४७-अक्ष्णोऽदर्शनात् ॥ ५ । ४ । ७६ ॥

दर्शन भिन्न अर्थ में अक्षि शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय हो। जैसे—पुष्कराक्षम्, उदुम्बराक्ष। अदर्शनादिति किम्-ब्राह्मणाक्षि।

४८-ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः ॥ ५ । ४ । ७८ ॥

ब्रह्मन् और हस्तिन् शब्द से परे जो वर्चस् उससे समासान्त अच् प्रत्यय हो। जैसे—ब्रह्मणो वर्चः ब्रह्मवर्चसम्, हस्तिनो वर्चः हस्तिवर्चसम्।

४६-वा०-पल्यराजभ्यां चेति वक्तव्यम् ॥

पल्यवर्चसम्, राजवर्चसम्।

५०-अवसमन्धेभ्यस्तमसः ॥ ५ । ४ । ७६ ॥

अव, सम् और अन्ध शब्द से परे जो तमस् उससे समासान्त अच् प्रत्यय हो। जैसे—अवगतं नाम प्राप्त तमः अवतमसम्, सम्यक्तमः सन्तमसम्, अन्धन्तमः अन्धतमसम।

५१-श्वसोवसीयःश्रेयसः ॥ ५ । ४ । ८० ॥

जो श्वस् शब्द से परे वसीयस् और श्रेयस् शब्द हों तो उनसे समासान्त अच् प्रत्यय हो। श्वोवसीयसम्, श्वःश्रेयसम्।

५२-अन्ववतप्ताद्रहसः ॥ ५ । ४ । ८१ ॥

[अनु, अव और तप्त शब्द से परे जो रहस्, उससे समासान्त अच् प्रत्यय हो। [जैसे—] अनुरहसम्, अवरहसम्, तप्तरहसम्।

५३-प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात् ॥ ५ । ४ । ८२ ॥

जो प्रति से परे सप्तमीस्थ उरस्, उससे समासान्त अच् प्रत्यय

राजन्, अहन् और सखि इन प्रातिपदिकों से परे समासान्त टच् प्रत्यय हो। जैसे—महाराजः, मद्रराजः; परमाहः, उत्तमाहः; देवसखः, राजसखः, ब्रह्मसखः।

६३—अग्राख्यायामुरसः ॥ ५ । ४ । ९३ ॥

अग्राख्या अर्थ में उरस् शब्दान्त तत्पुरुष समास से टच् प्रत्यय हो। जैसे—अश्वानामुरः अश्वोरसम्, हस्त्युरसम्। अग्राख्यायामिति किम्—देवदत्तस्योरः देवदत्तोरः।

६४—अनोऽश्मायस्सरसां जातिसञ्ज्ञयोः ॥५।४।९४॥

जाति और संज्ञा के विषय में अनस्, अश्मन् और अयस् सरस् शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय हो। जैसे—उपानसमिति जातिः, महानसमिति संज्ञा, अमृताश्ममिति जातिः, पिण्डाश्म इति संज्ञा; कालायसमिति जातिः, लोहितायसमिति संज्ञा; मण्डूकसरसमिति जातिः, जलसरसमिति संज्ञा। जातिसंज्ञयोरिति किम्—सदनः, सदश्मा, उत्तमायः, सत्सरः।

६५—ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः ॥ ५ । ४ । ९५ ॥

ग्राम और कौट से उत्तर जो तक्षन् उससे टच् प्रत्यय हो। ग्रामस्य तक्षा ग्रामतक्षः, कौटस्य तक्षा कौटतक्षः। ग्रामकौटाभ्यां चेति किम्—राज्ञस्तक्षा [राजतक्षा]।

६६—अतेः शुनः ॥ ५ । ४ । ९६ ॥

अति से उत्तर श्वन्, तदन्त जो तत्पुरुष उससे समासान्त टच् प्रत्यय हो। जैसे—अतिक्रान्तः श्वानमतिश्वः वराहो, जववानित्यर्थः। अतिश्वः सेवकः, सुष्ठु स्वामिभक्तः इत्यर्थः।

६७—उपमानादप्राणिषु ॥ ५ । ४ । ९७ ॥

प्राणि भिन्न अर्थ में उपमानवाची श्वन् शब्द से टच् प्रत्यय हो।

जैसे—आकर्षः श्वेव आकर्षश्वः, फलकश्व । "उपमितं व्याघ्रादिभिः [सा० १३८] इति समासः । उपमानादिति किम्—न श्वा अश्वा लोष्टः । अप्राणिष्विति किम् । वानरः श्वेव वानरश्वा ।

६७—उत्तरमृगपूर्वाच्च सक्थनः ॥ ५ । ४ । ९८ ॥

उत्तर, मृग, पूर्व और चकार से उपमानपूर्वक जो सक्थिन्, तदन्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय हो । उत्तरसक्थम्, मृगसक्थम्, पूर्वसक्थम् । उपमान—फलकमिव सक्थि फलकसक्थम् ।

६८—नावो द्विगोः ॥ ५ । ४ । ९९ ॥

नौ शब्दान्त द्विगु से समासान्त टच् प्रत्यय हो । द्वे नावौ समाहृते द्विनावम्, त्रिनावम्, द्वे नावौ धनमस्य द्विनावधनः, पञ्चनावप्रियः, द्वाभ्यां नौभ्यामागतं द्विनावरूप्यम्, द्विनावमयम् । द्विगोरिति किम्—राजनौः । अतद्धितलुकीत्येव—पञ्चभिर्नौभिः क्रीतः पञ्चनौः । दशनौः ।

६९—अर्धाच्च ॥ ५ । ४ । १०० ॥

जो अर्ध से परे नौ शब्द हो तो उससे समासान्त टच् प्रत्यय हो । अर्धं नावः अर्धनावम् ।

७०—खार्याः प्राचाम् ॥ ५ । ४ । १०१ ॥

प्राचीन आचार्यों के मत में अर्ध से उत्तर खारी और खारी शब्दान्त द्विगु, इनसे समासान्त टच् प्रत्यय हो । अर्धं खार्याः अर्धखारम् । अर्धखारी । द्वे खार्यौ समाहृते द्विखारम्, द्विखारि; त्रिखारम्, त्रिखारि ।

७१—द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ॥ ५ । ४ । १०२ ॥

द्वि और त्रि शब्द से परे जो अञ्जलि उससे समासान्त टच् प्रत्यय हो । द्वावञ्जली समाहृतौ द्व्यञ्जलम्, त्र्यञ्जलम् । द्विगोरित्येव—द्वयोरञ्जलिः द्व्यञ्जलिः । अतद्धितलुकीत्येव । द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां क्रीतः द्व्यञ्जलि, त्र्यञ्जलिः । प्राचामित्येव—द्व्यञ्जलिप्रिय ।

७२–अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि ॥ ५ । ४ । १०३ ॥

नपुंसकलिङ्ग वाची जो अनन्त और असन्त तत्पुरुष उससे समासान्त टच् प्रत्यय हो, वेद के विषय में। [अनन्तात्–] हस्तिचर्मे जुहोति । वृषभचर्मेऽभिषिञ्चति । असन्तात्—देवच्छन्दसानि, मनुष्यच्छन्दसानि । अनसन्तादिति किम्—बिल्वदारु जुहोति । नपुंसकादिति किम्—सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसम् । अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि वा वचनम् । ब्रह्मसाम, देवच्छन्दः, ब्रह्मसामम्, देवच्छन्दसम् ।

७३–ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् ॥ ५ । ४ । १०४ ॥

ब्रह्मन् शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय हो जानपद की आख्या अर्थ में। सुराष्ट्रेषु ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः, अवन्तिब्रह्मः, पञ्चालब्रह्मः । जानपदाख्यायामिति किम्—देवब्रह्मा नारदः ।

७४–कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम् ॥ ५ । ४ । १०५ ॥

कु और महत् से परे जो ब्रह्मन् शब्द सो अन्त में जिसके, उस तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय हो । कुब्रह्मः, कुब्रह्मा; महाब्रह्मः, महाब्रह्मा । ब्राह्मणपर्यायो ब्रह्मनशब्दः ।

७५–द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः ॥ २ । १ । २४ ॥

द्वितीयान्त समर्थ जो सुबन्त सो श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त और आपन्न इन सुबन्तों के संग विकल्प करके समास पावे, सो समास तत्पुरुष संज्ञक हो ॥। कष्टं श्रितः कष्टश्रितः, नरकश्रितः, कान्तारमतीतः कान्तारातीतः, नरकं पतितः नरकपतितः, ग्रामं गतः ग्रामगतः, व्यसनमत्यस्तः व्यसनात्यस्तः, सुखं प्राप्तः सुखप्राप्तः, सुखमापन्नः सुखापन्नः । समर्थग्रहणं किम् असमर्थम् । पश्य देवदत्त

॥ यहां से आगे द्वितीया तत्पुरुष समास चला ।

कष्ट, श्रितो विष्णुमित्रो गुरुकुलम्। यहां कष्ट शब्द का सम्बन्ध पश्य क्रिया के साथ है [और श्रित का विष्णुमित्र के साथ], इसलिये समास नहीं होता।

७६—वा०—श्रितादिषु गमिगाम्यादीनामुपसङ्ख्यानम् ॥ २ । १ । २४ ॥

ग्राम गमी ग्रामगमी, ग्रामं गामी ग्रामगामी, ओदनं बुभुक्षुः ओदनबुभुक्षु ।

७७—स्वयं क्तेन ॥ २ । १ । २५ ॥

स्वयं सुबन्त का क्तान्त सुबन्त के संग विकल्प करके जो समास हो, सो समास तत्पुरुष संज्ञक हो । जैसे—स्वयंधौतौ पादौ, स्वयंविलीनमाज्यम्। एकपद्यमैकस्वर्यं च समासत्वाद् भवति।

७८—खट्वाक्षेपे ॥ २ । १ । २६ ॥

क्षेप नाम निंदा का है। द्वितीयान्त खट्वा सुबन्त, क्तान्त सुबन्त के संग विकल्प करके समास को प्राप्त हो, सो समास तत्पुरुष संज्ञक हो । जैसे—खट्वारोहणं चेह विमार्गप्रस्थानस्योपलक्षणम्, सर्व एवायमविनीतः खट्वारूढ इत्युच्यते। खट्वारूढो जाल्म, खट्वाप्लुत । अपथप्रस्थित इत्यर्थ । क्षेप इति किम्—खट्वामारूढः।

७९—सामि ॥ २ । १ । २७ ॥

यह सामि अव्यय अर्ध का पर्याय है। जैसे—सामिकृतम्, सामिपीतम्, सामिभुक्तम्।

८०—कालाः ॥ २ । १ । २८ ॥

जो द्वितीयान्त कालवाची सुबन्त शब्द क्तान्त सुबन्त के साथ विकल्प करके समास पावे, सो तत्पुरुष संज्ञक हो। जैसे—षण्मु-

हूर्त्ताश्चराचराः। ते कदाचिदहर्गच्छन्ति, कदाचिद्रात्रिम्[1]। अहरतिसृता मुहूर्त्ताः, अहस्सङ्क्रान्ताः, रात्र्यतिसृता मुहूर्त्ताः, रात्रिसंक्रान्ताः, मासप्रमितश्चन्द्रमाः, मासं प्रमातुमारब्धः प्रतिपच्चन्द्रमा इत्यर्थः।

८१—अत्यन्तसंयोगे च ॥ २ । १ । २९ ॥

द्वितीयान्त कालवाची सुबन्त के संग समास पावे अत्यन्त संयोग अर्थ में, [सो तत्पुरुष संज्ञक हो]। अत्यन्त संयोग नाम सर्वसंयोग का है। जैसे = मुहूर्त्तं सुखम् मुहूर्त्तसुखम्, सर्वरात्रकल्याणी, सर्वरात्रशोभना।

८२—तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन * ॥२।१।३०॥

जो तृतीयान्त सुबन्त तत्कृत अर्थात् तृतीयार्थकृत गुण वचन के साथ समास हो, तथा तृतीयान्त सुबन्त का अर्थ सुबन्त के संग भी समास हो, सो तृतीया तत्पुरुष हो। उपादानेन विकलः उपादानविकलः, किरिणा काणः किरिकाणः, शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्ड, धान्येनार्थः धान्यार्थः। तत्कृतेनेति किम्—अक्ष्णा काणः गुणवचनेनेति किम्—गोभिर्वपावान्। समर्थग्रहणं किम्—त्व तिष्ठ शङ्कुलया, खण्डो धावति मुसलेन।

८३—पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः ॥

२ । १ । ३१ ॥

---

१. मुहूर्त दो घड़ी अर्थात् लगभग ४८ मिनट का होता है। दिन रात के ३० मुहूर्तों में २ मुहूर्त प्रातः और २ मुहूर्त सायं काल के ऐसे होते हैं जो कभी दिन में व्यतीत होते हैं कभी रात में अर्थात् जब दिन बड़ा होता है तब दिन में निकलते हैं और जब रात बड़ी होती है तब रात में। यु० मी०।

* यहां से आगे तृतीया तत्पुरुष समास का आरम्भ जानो।

तृतीयान्त सुबन्त का पूर्व, सदृश, सम, ऊनार्थ, कलह, निपुण, मिश्र और श्लक्ष्ण सुबन्तों के साथ समास हो, सो तृतीया तत्पुरुष हो। जैसे—मासेन पूर्वः मासपूर्वः, संवत्सरपूर्वः; पित्रा सदृशः पितृसदृशः, पित्रा समः पितृसमः; माषेणोनं माषोनम्, कार्षापणोनम्; माषविकलम्, कार्षापणविकलम्; असिकलहः, वाक्कलहः; वाग्निपुणः, शास्त्रनिपुणः, गुडमिश्रः, तिलमिश्रः; आचारश्लक्ष्णः।

८४—वा०—पूर्वादिष्ववरस्योपसंख्यानम् ॥२।१।३१॥

मासेनावरः मासावरः, संवत्सरावरः।

८५—कर्तृकरणे कृता बहुलम् ॥ २ । १ । ३२ ॥

कर्ता और करण अर्थ में जो तृतीयान्त सुबन्त सो कृदन्त के साथ कहीं कहीं समास को प्राप्त होते हैं, वह तृतीया तत्पुरुष समास होता है। जैसे अहिना दष्टः अहिदष्टः, देवदत्तेन कृतम् देवदत्तकृतम्, नखैर्निर्भिन्नः नखनिर्भिन्नः। कर्तृकरणे किम्—भिक्षाभिरुषितः। बहुलग्रहणं किम्—दात्रेण लूनवान्। परशुना छिन्नः। इह समासो न भवति। इह च भवति—पादहारको, गलेचोपकः।

८६—कृत्यैरधिकार्थवचने ॥ २ । १ । ३३ ॥

कर्ता और करण कारक में जो तृतीयान्त सो कृत्य प्रत्ययान्त सुबन्त के संग विकल्प करके समास को प्राप्त हो, अधिकार्थ वचन हो तो, वह तृतीया तत्पुरुष समास होता है। स्तुति निन्दायुक्त वचन को अधिकार्थ वचन कहते हैं जैसे—कर्ता—काकपेया नदी, श्वलेह्यः कूपः। करण—बाष्पच्छेद्यानि तृणानि, घनघात्यो गुडः, कशाघात्यो दुष्टः।

८७—वा०—कृत्यग्रहणे यण्ण्यतोर्ग्रहणम्।

इह मा भूत्—काकैः पातव्या इति।

८८–अन्नेन व्यञ्जनम् ॥ २ । १ । ३४ ॥

जो तृतीयान्त व्यञ्जन वाची सुबन्त का अन्न वाची सुबन्त के साथ समास हो सो तृतीया तत्पुरुष हो। जिससे अन्न का सत्कार किया जाय उसको व्यञ्जन कहते हैं। जैसे—दध्ना उपसिक्त ओदनः दध्योदन, क्षीरोदनः।

८९–भक्ष्येण मिश्रीकरणम् ॥ २ । १ । ३५ ॥

मिश्रीकरण वाची तृतीयान्त सुबन्त भक्ष्यवाची सुबन्त के सङ्ग में विकल्प करके समास पावे, सो तृतीया तत्पुरुष हो। जैसे—गुडेन मिश्रा धाना गुडधाना, घृतेन मिश्र शाकं घृतशाकम्।

९०–ओजः सहोम्भस्तमसस्तृतीयायाः ॥ ६ । ३ । ३ ॥

तृतीयान्त ओजस्, सहस्, अम्भस्, तमस् शब्दों से परे तृतीया का अलुक् हो, जो उत्तरपद परे हो तो। जैसे—ओजसाकृतम्, सहसाकृतम्, अम्भसाकृतम्, तमसाकृतम्।

९१–वा०–पुंसानुजो जनुषान्धो विकृताक्ष इति चोपसङ्ख्यानम् ॥ ६ । ३ । ३ ॥

पुंसानुजे, जनुषान्ध, विकृताक्षः।

९२–मनसः सञ्ज्ञायाम् ॥ ६ । ३ । ४ ॥

जो सञ्ज्ञा विषय में उत्तरपद परे हो तो तृतीयान्त मनस् से परे तृतीया का अलुक् हो। जैसे—मनसादत्ता, मनसागुप्ता, मनसारामः।

९३–आज्ञायिनि च ॥ ६ । ३ । ५ ॥

जो आज्ञायिन् उत्तरपद परे हो तो तृतीयान्त मनस् से परे तृतीया का अलुक् हो। जैसे—मनसाज्ञायी।

९४–आत्मनश्च पूरणे ॥ ६ । ३ । ६ ॥

[पूरण प्रत्ययान्त उत्तर पद के परे रहने पर आत्मन् से परे तृतीया का अलुक् हो।] आत्मनाषष्ठः, आत्मनापञ्चमः।

९५-चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ॥२।१।३६॥

जो तदर्थ अर्थात् विकृतिवाची चतुर्थ्यन्त सुबन्त [के लिये जो सुबन्त, तथा] अर्थ, बलि, हित, सुख और रक्षित सुबन्तों के साथ [चतुर्थ्यन्त सुबन्त विकल्प करके] समास को प्राप्त हो, सो चतुर्थी तत्पुरुष कहावे *। जैसे—यूपाय दारु यूपदारु, कुण्डलाय हिरण्यं कुण्डलहिरण्यम्। [तदर्थग्रहणेन] इह न भवति—रन्धनाय स्थाली, अवहननायोलूखलमिति।

९६-वा०-अर्थेन नित्यसमासवचनं सर्वलिङ्गता च वक्तव्या ॥ २ । १ । ३६ ॥

जैसे—ब्राह्मणार्थं पयः, ब्राह्मणार्था यवागूः, ब्राह्मणार्थः कम्बलः। कृमिभ्यो बलिः कृमिबलिः, गोहितम्, मनुष्यहितम्, गोसुखम्, गोरक्षितम्, अश्वरक्षितम्।

९७-वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः ॥ ६ । ३ । ७ ॥

जो उत्तरपद परे हो तो वैयाकरणों की आख्या अर्थात् संज्ञा विषय में आत्मन् शब्द से परे चतुर्थी का अलुक् हो। आत्मनेभाषा, आत्मनेपदम्।

९८-परस्य च ॥ ६ । ३ । ८ ॥

जो वैयाकरणों की आख्या अर्थ में उत्तरपद परे हो तो पर शब्द से परे चतुर्थी का अलुक् हो। जैसे—परस्मैपदम्, परस्मैभाषा।

९९-पञ्चमी भयेन ॥ २ । १ । ३७ ॥

जो पञ्चम्यन्त सुबन्त, भय सुबन्त के सङ्ग समास को प्राप्त हो, सो पञ्चमी तत्पुरुष हो †। जैसे—वृकेभ्यो भयं वृकभयम्, चोरभयम्, दस्युभयम्।

---

* यहां से चतुर्थी तत्पुरुष समास का आरम्भ समझना।

† यहां से पञ्चमी तत्पुरुष का आरम्भ है।

१००—वा०—भयभीतभीतिभीभिरिति वक्तव्यम् ॥
जैसे—वृकेभ्यो भीतः वृकभीतः, वृकभीतिः, वृकभीः।

१०१—अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः ॥२।१।३८॥
जो पञ्चम्यन्त प्रातिपदिक, अपेत अपोढ मुक्त पतित और अपत्रस्त इन सुबन्तों के साथ समास होता है, सो पञ्चमी तत्पुरुष हो। जैसे—सुखादपेतः सुखापेतः, दुःखापेतः, कल्पनापोढः, कृच्छ्रान्मुक्तः, चक्रमुक्तः, वृक्षपतितः, नरकापत्रस्तः। अल्पशः अर्थात् अल्पशः पञ्चमी समास पावे, सब पञ्चमी नहीं। इससे 'प्रासादात् पतितः, भोजनादपत्रस्तः' इत्यादि में नहीं होता।

१०२—स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन ॥२।१।३९॥
जो स्तोक अन्तिक दूर और इनके अर्थ वाले पञ्चम्यन्त हैं वे क्तान्त सुबन्त के साथ समास पावें, सो पञ्चमी तत्पुरुष हो।

१०३—अलुगुत्तरपदे ॥ ६ । ३ । १ ॥
अलुक् और उत्तरपद इन दो पदों का अधिकार किया है।

१०४—पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ॥ ६ । ३ । २ ॥
स्तोक आदि प्रातिपदिकों से परे उत्तरपद हो तो पञ्चमी विभक्ति का लुक् न हो। जैसे—स्तोकान्मुक्तः, स्वल्पान्मुक्तः, अन्तिकादागतः, समीपादागतः, अभ्याशादागतः, दूरादागतः, विप्रकृष्टादागतः, कृच्छ्रान्मुक्तः, कृच्छ्राल्लब्धः, क्लेशान्मुक्तः।

१०५—वा०—शतसहस्रौ परेणेति वक्तव्यम् ॥२।१।३९॥
शतात्परे परश्शताः, सहस्रात्परे परस्सहस्राः। राजदन्तादित्वात् ~[सा० २९२] परनिपातः। निपातनात् सुडागमः।

१०६—सप्तमी शौण्डैः ॥ २ । १ । ४० ॥

जो सप्तम्यन्त सुबन्त शौण्ड आदि सुबन्तों के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हो, सो सप्तमी तत्पुरुष हो ॐ। जैसे—अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः, अक्षधूर्तः, अक्षकितवः।

१०७–सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च ॥ २ । १ । ४१ ॥

जो सिद्ध, शुष्क, पक्व और बन्ध, सुबन्तों के संग सप्तम्यन्त सुबन्त का समास होता है, सो सप्तमी तत्पुरुष होता है। जैसे—सांकाश्यसिद्धः, मार्गसिद्धः; आतपशुष्कः, छायाशुष्कः; पयःपक्वः, तैलपक्वः, घृतपक्वः, स्थालपक्वः; चक्रबन्धः, गृहबन्धः।

१०८–ध्वाङ्क्षेण क्षेपे ॥ २ । १ । ४२ ॥

जो क्षेप अर्थात् निन्दा अर्थ में सप्तम्यन्त सुबन्त, ध्वाङ्क्षवाची सुबन्त के साथ समास पावे, सो सप्तमी तत्पुरुष हो।

१०९–वा०—ध्वाङ्क्षेणेत्यर्थग्रहणं कर्तव्यम् ॥

[यहां ध्वाङ्क्ष शब्द से उसके पर्यायवाचियों का ग्रहण करना चाहिये।] जैसे—तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव तीर्थध्वाङ्क्षः, अनवस्थित इत्यर्थः। तीर्थकाकः, तीर्थवायसः। क्षेप इति किम्—तीर्थे ध्वाङ्क्षस्तिष्ठति।

११०–कृत्यैर्ऋणे ॥ २ । १ । ४३ ॥

ऋण अर्थ जाना जाय तो सप्तम्यन्त सुबन्त कृत्य प्रत्ययान्त के साथ समास पावे। मासे देयमृणम्, संवत्सरदेयम्, [ऋण ग्रहण, अवश्य करने योग्य के उपलक्षण के लिये है। इससे यहां भी होता है—] पूर्वाह्णे गेयं साम, प्रातरध्येयोऽनुवाकः। ऋण इति किम्—मासे देया भिक्षा।

१११–सञ्ज्ञायाम् ॥ २ । १ । ४४ ॥

सञ्ज्ञा अर्थ में जो सप्तम्यन्त सुबन्त, [वह] सुबन्त के सङ्ग

ॐ यहां से आगे सप्तमी तत्पुरुष का अधिकार चला है।

समास पावे सो सप्तमी तत्पुरुष समास होता है। जैसे—अरण्येतिलकाः, अरण्येमाषाः, वनेकिंशुकाः। हलदन्तात् सप्तम्याः सञ्ज्ञायाम् [सा० ११६] इत्यलुक्।

११२–क्तेनाहोरात्रावयवाः ॥ २ । १ । ४५ ॥

जो दिन और रात्रि के अवयववाची सप्तम्यन्त सुबन्त प्रातिपदिक, क्तान्त सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हों, सो सप्तमी तत्पुरुष समास हों। जैसे—पूर्वाह्णकृतम्, अपराह्णकृतम्, पूर्वरात्रकृतम्, पररात्रकृतम्। अवयवग्रहणं किम्—अहनि भुक्तम्, रात्रौ कृतम्।

११३–तत्र ॥ २ । १ । ४६ ॥

जो तत्र सप्तम्यन्त सुबन्त, क्तान्त सुबन्त के साथ समास पावे, सो सप्तमी तत्पुरुष हो। जैसे—तत्रभुक्तम्, तत्रपीतम्, तत्रमृतः।

११४–क्षेपे ॥ २ । १ । ४७ ॥

जो क्षेप नाम निन्दा अर्थ में सप्तम्यन्त सुबन्त, क्तान्त सुबन्त के साथ समास पावे, सो सप्तमी तत्पुरुष हो। अवतप्तेनकुलस्थितम् तवैतत्, उदकेविशीर्णम्, प्रवाहेमूत्रितम्, भस्मनिहुतम्। निष्फलं यत्क्रियते तदेवात्रोच्यते। तत्पुरुषे कृति बहुलम् [सा० १२३] इत्यलुक्।

११५–पात्रेसंमितादयश्च ॥ २ । १ । ४८ ॥

पात्रेसंमित आदि शब्द निपातन किये हैं क्षेप अर्थ में, सो सप्तमी तत्पुरुष जानना। पात्रेसंमिताः, पात्रेबहुलाः, उदरकृमिः इत्यादि।

११६–हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ॥ ६ । ३ । ९ ॥

हलन्त और अदन्त प्रातिपदिक से परे सप्तमी का अलुक् हो, जो संज्ञा विषय में उत्तरपद परे हो तो। जैसे—युधिष्ठिरः, त्वचिसारः।

अदन्तात्—अरण्येतिलकाः । अरण्येमाषकाः । वनेकिंशुकाः वनेहरिद्रकाः । वनेबल्वजकाः । पूर्वाह्णेस्फोटकाः । कूपेपिशाचकाः । [हलदन्तादिति किम्—] नद्यां कुक्कुटिकाः नदीकुक्कुटिकाः । भूम्यां पाशाः भूमिपाशाः । संज्ञायामिति किम्—अक्षशौण्डः ।

११७–वा०—हृद्द्युभ्यां ङेः ॥ ६ । ३ । ६ ॥

जो उत्तरपद परे हो तो हृद् और दिव् से परे सप्तमी का अलुक् हो । जैसे—हृदिस्पृक्, दिविस्पृक् ।

११८–कारनाम्नि च प्राचां हलादौ ॥ ६ । ३ । १० ॥

करनाम हलादि उत्तरपद परे हो तो प्राचीनों के मत में हलन्त और अदन्त से परे सप्तमी का अलुक् हो । जैसे—सूपेशाणः, मुकटेकार्षापणम्, हलेद्विपदिका, हलेत्रिपदिका । कारनाम्नीति किम्—अभ्यर्हिते पशुः । प्राचामिति किम्—यूथे पशुः यूथपशुः । हलादाविति किम्—अविकटे उरणः अविकटोरणः । हलदन्तादित्येव—नद्यां दोहनी नदीदोहनी ।

११९–मध्याद् गुरौ ॥ ६ । ३ । ११ ॥

मध्येगुरुः ।

१२०–वा०—अन्ताच्चेति वक्तव्यम् ॥६।३।११॥

अन्तेगुरुः ।

१२१–अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे ॥६।३।१२॥

जो कामवर्जित उत्तर पद परे हो तो मूर्ध और मस्तक भिन्न हलन्त और अदन्त से परे सप्तमी का अलुक् हो । जैसे—कण्ठे कालो यस्य सः कण्ठेकालः, उरसिलोमा, उदरेमणिः । अमूर्धमस्तकादिति किम्—मूर्धशिखः, मस्तकशिखः । अकाम इति किम्—मुखे कामो यस्य मुखकामः । स्वाङ्गादिति किम्—अक्षशौण्डः । हलदन्तादिति किम्—अङ्गुलित्राणः, जङ्घाबलिः ।

१२२–बन्धे च विभाषा ॥ ६ । ३ । १३ ॥

जो घञन्त बन्ध उत्तरपद परे हो तो विकल्प करके हलन्त और अदन्त से परे सप्तमी का अलुक् हो। जैसे—हस्ते बन्धः हस्तबन्धः, चक्रे बन्धः चक्रबन्धः ।

१२३–तत्पुरुषे कृति बहुलम् ॥ ६ । ३ । १४ ॥

तत्पुरुष समास में कृदन्त उत्तरपद परे हो तो सप्तमी का अलुक् बहुल करके हो [अर्थात् कहीं हो कहीं न हो]। स्तम्बेरमः, कर्णेजपः। न च भवति—कुरुचरः, मद्रचरः।

१२४–प्रावृट्शरत्कालदिवां जे ॥ ६ । ३ । १५ ॥

जो ज उत्तरपद परे हो तो प्रावृट्, शरत्, काल, दिव, इनसे परे सप्तमी का अलुक् हो। जैसे—प्रावृषिजः, शरदिजः, कालेजः, दिविजः।

१२५–विभाषा वर्षक्षरशरवरात् ॥ ६ । ३ । १६ ॥

इन शब्दों से परे विकल्प करके सप्तमी का अलुक् हो। वर्षेजः, वर्षजः; क्षरेजः, क्षरजः; वरेजः, वरजः।

१२६–घकालतनेषु कालनाम्नः ॥ ६ । ३ । १७ ॥

जो * घसंज्ञक प्रत्यय, काल और तन प्रत्यय परे हों तो कालवाची से सप्तमी का अलुक् हो। जैसे—पूर्वाह्णेतरे पूर्वाह्णतरे, पूर्वाह्णेतमे, पूर्वाह्णतमे; पूर्वाह्णेकाले, पूर्वाह्णकाले; पूर्वाह्णेतने, पूर्वाह्णतने। कालनाम्न इति किम्—शुक्लतरे, शुक्लतमे। हलन्तादिति किम्—रात्रितरायाम्।

१२७–शयवासवासिष्वकालात् ॥ ६ । ३ । १८ ॥

जो शय, वास, वासि, ये उत्तरपद परे हों तो विकल्प करके

---

* तरप्तमपौ घः [अष्टा० १ । १ । २२] इस सूत्र से तरप् और तमप् की घ संज्ञा है।

सप्तमी का अलुक् हो। खेशय, खशय; ग्रामेवासः, ग्रामवासः; ग्रामेवासी, ग्रामवासी। अकालादिति किम्—पूर्वाह्णशयः। हलदन्तादित्येव—भूमिशयः।

१२८—नेन्सिद्धबध्नातिषु च ॥ ६ । ३ । १९ ॥

जो इन् प्रत्ययान्त सिद्ध और बध्नाति ये उत्तरपद परे हों तो सप्तमी का अलुक् न हो, अर्थात् लुक् हो। स्थण्डिलशायी, साङ्काश्यसिद्धः, चक्रबन्धकः, चरकबन्धकः।

१२९—स्थे च भाषायाम् ॥ ६ । ३ । २० ॥

जो स्थ उत्तरपद परे हो तो लोक में सप्तमी का अलुक न हो। जैसे—समस्थ, विषमस्थः। भाषायामिति किम्—कृष्णोऽस्याखरेष्ठः [यजु॰ २ । १ ।]

१३०—पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन ॥ २ । १ । ४९ ॥

पूर्वकाल यह अर्थ का ग्रहण है। पूर्वकाल, एक, सर्व, जरत्, पुराण, नव और केवल, सुबन्त शब्द समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास पावें ❀। जैसे—पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्तः, स्नातानुलिप्तः कृष्टसमीकृतम्, दग्धप्ररूढम्, एका चासौ शाटी च एकशाटी, सर्वे च ते वेदाश्च सर्ववेदाः, जरंश्चासौ वैद्यश्च जरद्वैद्यः, पुराणान्नम्, नवान्नम्, केवलान्नम्। समानाधिकरणेनेति किम्—एकस्याः शाटी।

१३१—दिक्संख्ये संज्ञायाम् ॥ २ । १ । ५० ॥

संज्ञा के विषय में दिक् और संख्यावाची शब्द समानाधिकरण के साथ समास पावें। समानाधिकरण की अनुवृत्ति पाद की समाप्ति

❀ यह समास बहुधा प्रथमा विभक्ति में आता है इसलिये [इसे] प्रथमा तत्पुरुष और कर्मधारय समास भी कहते हैं।

पर्यन्त जाननी । [दिक्–] पूर्वेषुकामशमी, अपरेषुकामशमी । संख्या—पञ्चाम्राः, सप्तर्षयः । संज्ञायामिति किम्—उत्तरा वृक्षाः, पञ्च ब्राह्मणाः ।

१३२–तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च ॥ २ । १ । ५१ ॥

दिग्वाची शब्द और संख्यावाची शब्द तद्धित अर्थ में तथा उत्तरपद परे हो और समाहार अर्थ में समानाधिकरण के साथ समास को प्राप्त हों । पूर्वस्यां शालायां भवः पौर्वशालः औत्तरशालः, आपरशालः । उत्तरपदे—पूर्वा शाला प्रिया यस्य स पूर्वशालाप्रियः, अपरशालाप्रियः । संख्यातद्धितार्थे—पाञ्चनापितिः, पाञ्चकपालः । उत्तरपदे—पञ्चगवधनः । समाहारे पञ्चपूली, दशपूली, पञ्चकुमारि, दशकुमारि, दशग्रामी, अष्टाध्यायी ।

१३३–संख्यापूर्वो द्विगुः ॥ २ । १ । ५२ ॥

जो तद्धितार्थोत्तरपद समाहार में संख्या पूर्व समास है, सो द्विगु संज्ञक होता है । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः । द्विगोर्लुगनपत्ये [स्त्रै० १६१] इति लुक् । ऐसे ही समासान्त तथा ङीप् इत्यादि कार्य जानने चाहियें । पञ्चनावप्रियः[1], पञ्चपूली[2] ।

१३४–कुत्सितानि कुत्सनैः ॥ २ । १ । ५३ ॥

जो कुत्सितवाची सुबन्त का कुत्सनवचन सुबन्तों के साथ समास हो, सो तत्पुरुष संज्ञक हो । जैसे—वैयाकरणखसूचिः, निष्प्रतिभ इत्यर्थः । याज्ञिककितवः, अयाज्ययाजनतृष्णापरः । मीमांसकदुर्दुरूढः, नास्तिकः । कुत्सितानीति किम्—वैयाकरणश्चौरः । कुत्सनैरिति किम्—कुत्सितो ब्राह्मणः ।

---

१. नावो द्विगोः । मा० ९८ । पु० मी० ।
२. द्विगोः [स्त्रै० ७५] । पु० मी० ।

१३५-पापाणके कुत्सितैः ॥ २ । १ । ५४ ॥

जो पाप और अणक सुबन्त का कुत्सित सुबन्तों के साथ समास हो, सो सामानाधिकरण हो। जैसे—पापनापित', पापकुलाल', अणकनापितः, अणककुलाल'।

१३६-उपमानानि सामान्यवचनैः ॥ २ । १ । ५५ ॥

जो उपमानवाची सुबन्त का सामान्य वचन सुबन्तों के साथ समास हो, सो समानाधिकरण तत्पुरुष हो। शस्त्रीवश्यामा शस्त्रीश्यामा देवदत्ता, कुमुदश्येनी, हंसगद्गदा, घन इव श्यामः घनश्यामो देवदत्तः। उपमानानीति किम्—देवदत्ता श्यामा। सामान्यवचनैरिति किम्—पर्वता इव बलाहकाः।

१३७-उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे॥२।१।५६॥

जो उपमित अर्थात् उपमेय वाची सुबन्त का व्याघ्रादि सुबन्तों के साथ समास हो, सो समानाधिकरण तत्पुरुष हो। पुरुषोऽयं व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः, पुरुषसिंह, सिंह इव ना नृसिंहः। सामान्याप्रयोग इति किम्—पुरुषो व्याघ्र इव शूरः।

१३८-विशेषणं विशेष्येण बहुलम् ॥ २ । १ । ५७ ॥

जो विशेषणवाची सुबन्त का विशेष्यवाची सामानाधिकरण सुबन्त के साथ समास हो सो समानाधिकरण तत्पुरुष हो। नीलञ्च तदुत्पलञ्च नीलोत्पलम्, रक्तोत्पलम्। बहुलवचनं व्यवस्थार्थम्। क्वचिन्नित्यसमास एव—कृष्णसर्पः, लोहितशालि। क्वचिन्न भवत्येव—रामो जामदग्न्यः, अर्जुनः कार्तवीर्यः। क्वचिद्विकल्पः—नीलमुत्पलं, नीलोत्पलम्।

१३९-पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च॥

२ । १ । ५८ ॥

पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम और वीर, जो इन सुबन्तों का सामानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास हो, सो समानाधिकरण तत्पुरुष हो। पूर्वश्चासौ पुरुषश्च पूर्वपुरुषः, अपरपुरुषः, प्रथमपुरुषः, चरमपुरुषः, जघन्यपुरुषः, समानपुरुषः, मध्यपुरुषः, मध्यमपुरुषः, वीरपुरुषः।

१४०-श्रेण्यादयः कृतादिभिः ॥ २ । १ । ५६ ॥

श्रेणि आदि सुबन्तों का कृत आदि सुबन्तों के साथ समास हो, सो समानाधिकरण तत्पुरुष हो।

१४१-वा०—श्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचनम् ॥२।१।५९॥

जैसे—अश्रेणयः श्रेणयः कृताः श्रेणीकृता वणिजो वसन्ति। 'च्व्यन्तानां तु कुगतिप्रादयः [सा० १८५] इत्यनेन नित्यसमासः।

१४२-क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ् ॥ २ । १ । ६० ॥

जो नञ् रहित क्तान्त सुबन्त का नञ् विशिष्ट क्तान्त सुबन्त समानाधिकरण के साथ समास हो, सो समानाधिकरण तत्पुरुष हो। जैसे—कृतं च तदकृतं च कृताकृतम्, भुक्ताभुक्तम्, पीतापीतम्, उदितानुदितम्, अशितानशितेन जीवति, क्लिष्टाक्लिष्टेन वर्तते।

१४३-वा०—कृतापकृतादीनामुपसंख्यानम् ॥२।१।६०॥

कृतापकृतम्, भुक्तविभुक्तम्, पीतविपीतम्, गतप्रत्यागतम्, यातानुयातम्, क्रयाक्रयिका, पुटापुटिका, फलाफलिका, मानोन्मानिका।

१४४-वा०—समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानमुत्तरपदलोपश्च ॥ २ । १ । ६० ॥

शाकप्रधानः पार्थिवः शाकपार्थिवः, कुतपसौश्रुतः, अजातौल्वलिः।

१४५-सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः ॥२।१।६१॥

जो सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट सुबन्तों का पूज्यमान सुबन्तों के साथ समास हो, सो समानाधिकरण तत्पुरुष हो। जैसे—सत्पुरुष, महापुरुष, परमपुरुष, उत्तमपुरुष, उत्कृष्टपुरुष। पूज्यमानैरिति किम्—उत्कृष्टो गौ कर्दमात्।

१४६–वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् ॥२।१।६२॥

जो वृन्दारक नाग कुञ्जर सुबन्तों के साथ पूज्यमान अर्थों के वाचक सुबन्त का समास हो सो समानाधिकरण तत्पुरुष हो। गोवृन्दारक, अश्ववृन्दारक, गानाग, अश्वनाग, गोकुञ्जर, [अश्वकुञ्जर] पूज्यमानमिति किम्—सुसीमो नाग।

१४७ कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने ॥ २ । १ । ६३ ॥

जो जाति के परिप्रश्न अर्थ में वर्तमान कतर कतम प्रत्ययान्त सुबन्त का समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास हो सो समानाधिकरण तत्पुरुष हो। जैसे—कतरकठ, कतरकलाप,[1] कतमकठ, कतमकलाप। जातिपरिप्रश्न इति किम्—कतरा भवतार्देवदत्त, कतमो भवता देवदत्त।

१४८–किं क्षेपे ॥ २ । १ । ६४ ॥

किम् शब्द का क्षेप अर्थ में सुबन्त के साथ समास हो, सो समानाधिकरण तत्पुरुष हो। जैसे—किंराजा यो न रक्षति, किंसखा योऽभिद्रुह्यति, किंगौ यो न वहति।

१४९–किमः क्षेपे ॥ ५ । ४ । ७० ॥

क्षेप अर्थ में जो किं शब्द उससे समासान्त प्रत्यय न हो। [इससे] किंराजा आदि उदाहरणों में टच् प्रत्यय न हुआ।

---

[1] अनेक भेद वाली कठ कलाप जाति में आप कौन सी कठ या कलाप जाति के हैं, यह प्रश्न है। यु० मी०।

१५०–पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कयणी-प्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्तैर्जातिः ॥ २ । १ । ६५ ॥

जो पोटा, युवति, स्तोक, कतिपय, गृष्टि, धेनु, वशा, वेहद्, बष्कयणी, प्रवक्तृ, श्रोत्रिय, अध्यापक, धूर्त इन सुबन्तों का जातिवाची सुबन्तों के साथ समास होता है वह [सामानाधिकरण] तत्पुरुष हो। जैसे—इभा चासौ पोटा च इभपोटा, इभयुवतिः, अग्निस्तोकः, उदश्वित्कतिपयम्, गोगृष्टिः, गोधेनुः, गोवशा, गोवेहत्, गोबष्कयणी, कठप्रवक्ता, कठश्रोत्रियः, कठाध्यापकः, कठधूर्तः। जातिरिति किम्—देवदत्तः प्रवक्ता।

१५१–प्रशंसावचनैश्च ॥ २ । १ । ६६ ॥

जातिवाची सुबन्त प्रशंसावाची सुबन्तों के साथ समास को प्राप्त हो सो समानाधिकरण तत्पुरुष हो। जैसे—गोप्रकाण्डम्, अश्वप्रकाण्डम्; गोमतल्लिका, [अश्वमतल्लिका]; अश्वमचर्चिका। जातिरिति किम्—कुमारीमतल्लिका।

१५२–युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः ॥२।१।६७॥

खलति, पलित, वलिन और जरती, इन सुबन्तों के साथ युवन् सुबन्त समास को प्राप्त हो, सो [समानाधिकरण] तत्पुरुष हो। युवाखलतिः युवखलतिः, युवतिः खलती युवखलती, युवा पलितः युवपलितः, युवतिः पलिता युवपलिता, युवा वलिनः युववलिनः, युवतिर्वलिना युववलिना, युवाजरन् युवजरन्, युवतिर्जरती युवजरती।

१५३–कृत्यतुल्याख्या अजात्या ॥ २ । १ । ६८ ॥

कृत्य प्रत्ययान्त और तुल्य तथा तुल्य के समानार्थ जो सुबन्त सो जातिवर्जित सुबन्त के साथ समास पावे, सो सामानाधिकरण

तत्पुरुष कर्मधारयसमास हो। जैसे—भोज्यं च तदुष्णञ्च भोज्योष्णम्, भोज्यलवणम्, पानीयशीतम्। तुल्याख्या—तुल्यश्वेतः, तुल्यमहान्; सदृशश्वेतः, सदृशमहान्। अजात्येति किम्—रत्नणीयो मनुष्यः।

१५४–वर्णो वर्णेन ॥ २ । १ । ६९ ॥

वर्ण विशेषवाची समानाधिकरण सुबन्त के साथ वर्ण विशेषवाची सुबन्त समास पावे, सो समानाधिकरण तत्पुरुष हो। कृष्णसारङ्गः, लोहितसारङ्गः, कृष्णशबलः, लोहितशबलः।

१५५–कुमारः श्रमणादिभिः ॥ २ । १ । ७० ॥

कुमार शब्द, श्रमणा आदि सुबन्तों के साथ समास पावे सो समानाधिकरण तत्पुरुष हो। कुमारी श्रमणा कुमारश्रमणा, कुमारी प्रव्रजिता कुमारप्रव्रजिता, कुमारी कुलटा कुमारकुलटा इत्यादि।

१५६–चतुष्पादो गर्भिण्या ॥ २ । १ । ७१ ॥

चतुष्पादवाचा सुबन्त गर्भिणी सुबन्त के साथ समास पावे सो [समानाधिकरण] तत्पुरुष हो। जैसे—गोगर्भिणी, अजागर्भिणी, महिषीगर्भिणी।

१५७–वा०—चतुष्पाज्जातिरिति वक्तव्यम् ॥२।१।७१॥

[जातिरिति किम्—] इह माभूत्—कालाक्षी गर्भिणी। स्वस्तिमती गर्भिणी। चतुष्पाद इति किम्—ब्राह्मणी गर्भिणी।

१५८–मयूरव्यंसकादयश्च ॥ २ । १ । ७२ ॥

मयूरव्यंसक आदि शब्द निपातन किये हैं, सो समानाधिकरण तत्पुरुष हों। जैसे—मयूरव्यसक, छात्रव्यंसक।

॥ इति समानाधिकरणः कर्मधारयस्तत्पुरुषः समास ॥

अथैकाधिकरणस्तत्पुरुषः ॥

१५९—पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे ॥२।२।१॥

पूर्व, अपर, अधर, उत्तर ये सुबन्त एकदेशवाची अर्थात् अवयववाची सुबन्त के साथ समास पावें, [और वह तत्पुरुष समास हो] एक ❀ अधिकरण अर्थात् एक द्रव्य वाच्य हो तो। षष्ठीसमासापवादोऽयं योगः। पूर्वं कायस्य पूर्वकायः, अपरकायः, अधरकायः, उत्तरकायः। एकदेशिनेति किम्—पूर्वं नाभेः कायस्य। एकाधिकरण इति किम्—पूर्वं छात्राणामामन्त्रय।

१६०—अर्धं नपुंसकम् ॥ २ । २ । २ ॥

जो नपुंसक लिङ्ग अर्ध शब्द, एकदेशी एकाधिकरण सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो सो तत्पुरुष हो। जैसे—अर्द्धं पिप्पल्याः अर्द्धपिप्पली, अर्द्धकोशातकी। नपुंसकमिति किम्—ग्रामार्धः, नगरार्धः। एकदेशिनेत्येव—अर्धं ग्रामस्य देवदत्तस्य। एकाधिकरण इत्येव—अर्धं पिप्पलीनाम्। [समभागवाची नपुंसक और अवयववाची पुंल्लिङ्ग होता है]।

१६१—द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम् ॥२।२।३॥

द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और तुर्य ये सुबन्त एकदेशि एकाधिकरण सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हों, सो तत्पुरुष हो। द्वितीयं भिक्षायाः द्वितीयभिक्षा, षष्ठीसमास पक्षे—भिक्षाद्वितीयं वा। तृतीयं भिक्षायाः तृतीयभिक्षा, भिक्षातृतीयं वा। चतुर्थं भिक्षायाः चतुर्थभिक्षा, भिक्षाचतुर्थं वा। एकदेशिनेत्येव—द्वितीयं भिक्षाया भिक्षुकस्य। एकाधिकरण इत्येव—द्वितीयं भिक्षाणाम्।

१६२—प्राप्तापन्ने च द्वितीयया ॥ २ । २ । ४ ॥

❀ अनेक शब्द समस्त हों वे एक ही पदार्थ के वाचक हों।

प्राप्त और आपन्न सुबन्त, द्वितीयान्त सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हों। जैसे—प्राप्तो जीविकाम् प्राप्तजीविक, जीविकाप्राप्त इति वा; आपन्नो जीविकाम् आपन्नजीविकः, जीविकापन्न इति वा।

१६३–कालाः परिमाणिना ॥ २ । २ । ५ ॥

कालवाची सुबन्त परिमाणवाची सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो सो तत्पुरुष हो। जैसे—मासो जातोऽस्य स मासजातः, संवत्सरजात, द्व्यहजातः, त्र्यहजातः।

१६४–नञ् ॥ २ । २ । ६ ॥

नञ् समर्थ सुबन्त के साथ समास पावे सो, नञ् तत्पुरुष हो। जैसे—न ब्राह्मणः अब्राह्मणः, अवृषलः।

१६५–तस्मान्नुडचि ॥ ६ । ३ । ७४ ॥

तस्मात् नाम लोप हुये नञ् के नकार से परे अजादि उत्तरपद को नुट् का आगम हो। [जैसे-] न अच् अनच्, न अश्वः अनश्व, न उष्ट्रः अनुष्ट्रः इत्यादि।

१६६–नञस्तत्पुरुषात् ॥ ५ । ४ । ७१ ॥

जो नञ् से परे राज आदि शब्द सो अन्त में जिस तत्पुरुष के उससे समासान्त प्रत्यय न हो। [जैसे-] अराजा, असखा, अगौः। तत्पुरुषादिति किम्—अनृचो माणवकः, अधुरं शकटम्।

१६७–पथो विभाषा ॥ ५ । ४ । ७२ ॥

जो नञ् से परे पथिन् शब्द सो जिस तत्पुरुष के अन्त में हो उससे समासान्त प्रत्यय विकल्प करके हो। [जैसे-] अपथम्, अपन्थाः।

१६८–ईषदकृता ॥ २ । २ । ७ ॥

जो सुबन्त ईषत् 'शब्द कृत् वर्जित सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो, वह तत्पुरुष समास हो।

१६९—वा०—ईषद् गुणवचनेनेति वक्तव्यम् ॥२।२।७॥

ईषत्कडारः, ईषत्पिङ्गल', ईषद्विकारः, ईषदुन्नत, ईषत्पीतम्। गुणवचनेनेति किम्—ईषद् गार्ग्यः।

१७०—षष्ठी ॥ २ । २ । ८ ॥

षष्ठ्यन्त सुबन्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प करके समास पावे, सो षष्ठी तत्पुरुष * जानो। राज्ञः पुरुष राजपुरुषः, राज्ञो पुरुषौ राजपुरुषौ, राज्ञा पुरुषा राजपुरुषा, राज्ञ. पुरुषौ पुरुषा वा; ब्राह्मणकम्बलः।

१७१—वा०—कृद्योगा च षष्ठी समस्यत इति वक्तव्यम्॥ २ । २ । ८ ॥

जैसे—इध्मप्रश्चन', पलाशशातनः। किमर्थमिदमुच्यते ? प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यत इति वक्ष्यति, [सू० १७३] तस्यायं पुरस्तादपकर्ष'।

१७२—याजकादिभिश्च ॥ २ । २ । ९ ॥

षष्ठ्यन्त याजक आदि शब्द सुबन्तों के साथ समास पावें सो षष्ठी तत्पुरुष हो। जैसे—ब्राह्मणयाजक, क्षत्रिययाजक।

† [१७३—वा०—प्रतिपद विधाना च षष्ठी न समस्यत इति वक्तव्यम् ॥ २ । २ । १० ॥

जिस षष्ठी का विशेष निर्देश करके विधान किया है उसका समास नहीं होता। जैसे—सर्पिषो ज्ञानम्—मधुनो ज्ञानम्।]

---

* यहाँ [illegible] आगे षष्ठीतत्पुरुष का प्रकरण समझना चाहिये।

† पूर्व सूत्र (क्रमाङ्क १७१) की व्याख्या में किया है—"प्रतिपद

१७४–षष्ठ्या आक्रोशे ॥ ६ । ३ । २१ ॥

आक्रोशे अर्थात् निन्दा अर्थ में उत्तरपद परे हो तो षष्ठी का अलुक् हो। जैसे–चौरस्यकुलम्। आक्रोश इति किम्–ब्राह्मणकुलम्।

१७५–वा०—षष्ठीप्रकरणे वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु यथासंख्यमलुग्वक्तव्यः ॥ ६ । ३ । २१ ॥

जैसे—वाचोयुक्ति, दिशोदण्डः, पश्यतोहरः।

१७६–वा०—आमुष्यायणामुष्यपुत्रिकामुष्यकुलिकेति चालुग् वक्तव्यः ॥ ६ । ३ । २१ ॥

अमुष्या अपत्यम् आमुष्यायण', नडादित्वात् [स्त्रैणा० १७६] फक्। अमुष्य पुत्रस्य भाव आमुष्यपुत्रिका, मनोज्ञादित्वाद् [अ० ५। १। १३१] वुञ्। तथा आमुष्यकुलिकेति।

१७७–वा०–देवाना प्रिय इत्यत्र च षष्ठ्या अलुग्वक्तव्यः ॥ ६ । ३ । २१ ॥

जैसे—देवानांप्रिय'।

१७८–वा०–शेपपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः संज्ञाया षष्ठ्या अलुग् वक्तव्य ॥ ६ । ३ । २१ ॥

जैसे—शुन शेप, शुन पुच्छ, शुनोलाङ्गूल ।

१७९–वा०–दिवश्च दासे षष्ठ्या अलुग् वक्तव्य. ॥ ६ । ३ । २१ ॥

विधान षष्ठी के समास का निषेध करेंगे", परन्तु यह निषेध मुद्रित ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। सम्भव है लेखकादि के प्रमाद से नष्ट हो गया हो। अतएव हमने यह कोष्ठान्तर्गत पाठ बढ़ाया है। यु० मी०।

दिवोदासाय गायति ।

१८०–पुत्रेऽन्यतरस्याम् ॥ ६ । ३ । २२ ॥

पुत्र उत्तरपद परे हो तो आक्रोश अर्थ में षष्ठी [का] अलुक् विकल्प करके हो । जैसे—दास्याः पुत्रः, दासीपुत्रो वा । आक्रोश इति किम्—ब्राह्मणीपुत्रः ।

१८१–ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः ॥ ६ । ३ । २३ ॥

ऋकारान्त विद्यासम्बन्धी और ऋकारान्त योनि सम्बन्धियों से परे षष्ठी का अलुक् हो । जैसे—होतुरन्तेवासी, होतुःपुत्रः; पितुरन्तेवासी, पितुःपुत्रः । ऋत इति किम्—आचार्यपुत्रः, मातुलपुत्रः ।

१८२–विभाषा स्वसृपत्योः ॥ ६ । ३ । २४ ॥

ऋकारान्त विद्यासम्बन्धी और ऋकारान्त योनिसम्बन्धियों से स्वसृ तथा पति उत्तरपद परे हो तो विकल्प करके षष्ठी का अलुक् हो । जैसे—मातुःष्वसा, मातुःस्वसा, मातृष्वसा; पितुःष्वसा, पितुःस्वसा, पितृष्वसा, दुहितुःपतिः, दुहितृपतिः; ननान्दुःपतिः, ननान्दृपतिः ।

१८३–नित्यं क्रीडाजीविकयोः ॥ २ । २ । १७ ॥

क्रीडा और जीविका अर्थ में षष्ठी सुबन्त के साथ नित्य समास पावे । जैसे—क्रीडा—उद्दालकपुष्पभञ्जिका, वारणपुष्पप्रचायिका जीविका—दन्तलेखकः, पुस्तकलेखकः । क्रीडाजीविकयोरिति किम्—ओदनस्य भोजकः । *

१८४–कुगतिप्रादयः ॥ २ । २ । १८ ॥

कु, अव्यय, गतिसंज्ञक और प्रादि गणस्थ शब्द समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हों । जैसे—कु—कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः । गति—उररीकृतम्, यदूरीकरोति । प्रादयः—

* यहां तक षष्ठीतत्पुरुष आया, इसके आगे पुनः [साधारण] तत्पुरुष का प्रकरण चला है ।

१८५–वा०–दुर्निन्दायाम् ॥ २ । २ । १८ ॥

दुष्पुरुष, दुष्कृतम्।

१८६–वा०–स्वतीपूजायाम् ॥ २ । २ । १८ ॥

सु और अति ये पूजा अर्थ में ही समास को प्राप्त हों। शोभनः पुरुष सुपुरुष., अतिपुरुष, अतिस्तुतम्।

१८७–वा०–आङीषदर्थे ॥ २ । २ । १८ ॥

आपिङ्गलः आकडार, आबद्धम्।

१८८–वा०–प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया ॥२।२।१८॥

प्रगत आचार्यः प्राचार्यः, प्रान्तेवासी।

१८९–वा०–अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया ॥ २ । २ । १८ ॥

अतिक्रान्तः खट्वाम् अतिखट्वः, अतिमाल.।

१९०–वा०–अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया ॥२।२।१८॥

अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिल।

१९१–वा०–पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या ॥२।२।१८॥

परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययन, अलं कुमार्यै अलकुमारि।

१९२–वा०–निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या ॥२।२।१८॥

निष्क्रान्तः कौशम्ब्या. निष्कौशाम्बि, निर्वाराणसि, निष्क्रान्तः सभायाः निःसभ।

१९३–वा०–प्रादिप्रसङ्गे कर्मप्रवचनीयानां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥ २ । २ । १८ ॥

वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्, साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति।

१६४–उपपदमतिङ् ॥ २ । २ । १९ ॥

जो तिङ् वर्जित उपपद है सो समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त हो, सो तत्पुरुष समास हो। जैसे—कुम्भकार, नगरकार, इत्यादि।

१६५–न पूजनात् ॥ ५ । ४ । ६९ ॥

पूजन वाची से परे समासान्त प्रत्यय न हो। जैसे—सुराजा, अतिराजा, सुसखा, अतिसखा, सुगौः, अतिगौः।

१६६–अमैवाव्ययेन ॥ २ । २ । २० ॥

जो उपपद [का] अव्यय के साथ समास हो तो अम् अन्यय ही के साथ हो, अन्य के सङ्ग नहीं। स्वादुंकारं भुङ्क्ते, लवणंकारं भुङ्क्ते, सपन्नंकारं भुङ्क्ते। अमैवेति किम्—नेह भवति कालो भोक्तुम्। एवकारकरणमुपपदविशेषणार्थम्। अमैव यत्तुल्यविधानमुपपदं तस्य समासो यथा स्यात्, अमा चान्येन च यत्तुल्यविधानं तस्य मा भूत्—अग्रे भुक्त्वा, अग्रे भोजम्।

१६७–तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम् ॥ २ । २ । २१ ॥

"उपदंशस्तृतीयायाम्"[1] यहां से ले के जो उपपद हैं वे अम् अव्यय के साथ विकल्प करके समास को प्राप्त हों सो तत्पुरुष समास हो। मूलकोपदंशं भुङ्क्ते, मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते; उच्चैःकारं समाचष्टे, उच्चैःकारेण वा। अमैवेत्येव—पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु[2]। पर्याप्तो भोक्तुम्, प्रभुर्भोक्तुम्, समर्थो भोक्तुम्।

१६८–क्त्वा च ॥ २ । २ । २२ ॥

१. अ० ३।४।४७। पु० मी०।
२. अ० ३।४।६६। पु० मी०।

तृतीया प्रभृति शब्द क्त्वा प्रत्यय के साथ समास विकल्प करके प्राप्त हो। उच्चैःकृत्य, उच्चैःकृत्वा। ※

१९९—शेषो बहुव्रीहिः॥ २। २। २३॥

शेष अर्थात् उक्त समासों को छोड़ के जो आगे समास कथन करते हैं सो बहुव्रीहि है। यह अधिकार सूत्र भी है।

२००—अनेकमन्यपदार्थे॥ २। २। २४॥

जो अन्य-पद के अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्त, सो सुबन्त के सङ्ग समास को प्राप्त हो, उसको बहुव्रीहि जानो। † विशाले नेत्रे यस्य स विशालनेत्रः, बहु धनं यस्य स बहुधनो बहुधनको वा पुरुषः। एक प्रथमा विभक्ति के अर्थ को छोड़ कर सब विभक्ति के अर्थों में बहुव्रीहि समास होता है। प्राप्तमुदकं यं ग्रामं स प्राप्तोदको ग्रामः, ऊढो रथो येन स ऊढरथोऽनड्वान्, उपहृतमुदकं यस्मै स उपहृतोदकोऽतिथि, उद्धृत ओदनो यस्याः सा उद्धृतौदना स्थाली, अच् अन्ते यस्य स अजन्तो धातुः, वीराः पुरुषा यस्मिन् ग्रामे स वीरपुरुषो ग्रामः। परन्तु प्रथमा के अर्थ में नहीं होता है—वृष्टे मेघे गतः। अनेकग्रहणं किम्—बहूनामपि यथा स्यात्, सुसूक्ष्मजटकेशः इत्यादि।

२०१—वा०—बहुव्रीहिः समानाधिकरणानामिति वक्तव्यम्॥ २। २। २४॥

※ यहां तक कुगति और प्रादि प्रयुक्त तत्पुरुष समास आया, इसके आगे बहुव्रीहि का अधिकार चला है।

† इस बहुव्रीहि समास के विग्रह में प्रथमा और अन्य पदार्थ में द्वितीया आदि विभक्तियों के प्रयोग होते हैं जैसे नेत्र शब्द प्रथमा और यत् शब्द से षष्ठी हुई है वैसे सर्वत्र समझो।

व्याधिकरणानां माभूत्—पञ्चभिर्भुक्तमस्य।

२०२—वा०—अव्ययानां च बहुव्रीहिर्वक्तव्यः ॥२।२।२४॥

[उच्चैर्मुखं यस्य] उच्चैर्मुखः, नीचैर्मुखः।

२०३—वा०—सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च ॥
२ । २ । २४ ॥

कण्ठे स्थितः कालो यस्य कण्ठेकालः, उरसिलोमा, उष्ट्रस्य मुखमिव मुखं यस्य स उष्ट्रमुखः, खरमुखः।

२०४—वा०—समुदायविकारषष्ठ्याश्च बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्चेति वक्तव्यम् ॥ २ । २ । २४ ॥

केशानां संघातः केशसंघातः, केशसंघातश्चूडाऽस्य स केशचूडः, सुवर्णविकारोऽलंकारोऽस्य स सुवर्णाऽलंकारः।

२०५—वा०—प्रादिभ्यो धातुजस्योत्तरपदलोपश्च वा बहुव्रीहिर्वक्तव्यः ॥ २ । २ । २४ ॥

प्रपतितं पर्णमस्य प्रपर्णः, प्रपतित पलाशमस्य प्रपलाशः।

२०६—वा०—नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः ॥ २ । २ । २४ ॥

अविद्यमानः पुत्रो यस्य सोऽपुत्रः, [अविद्यमान पुत्रः,] अविद्यमाना भार्या यस्य सोऽभार्यः, अविद्यमानभार्यः।

२०७—वा०—सुबधिकारेऽस्तिक्षीरादीनां बहुव्रीहिर्वक्तव्यः ॥ २ । २ । २४ ॥

अस्तिक्षीरा ब्राह्मणी। अस्त्यादयो निपाताः।

२०८—स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु ॥ ६ । ३ । ३४ ॥

भापित पुमान् येन स भाषितपुंस्कः, तस्मात्। भाषितपुंलिङ्ग से
रे ऊङ्वर्जित जो स्त्री शब्द उसको पुंवत् हो अर्थात् उसका पुंलिङ्ग
के सदृश रूप होता है समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग वाची उत्तरपद परे
हो तो, परन्तु पूरणी तथा प्रियादि को छोड़ के। दर्शनीया भार्या
यस्य स दर्शनीयभार्यः, रूपवद्भार्य, श्लक्ष्णचूड, पूर्णा विद्या यस्याः
सा पूर्णविद्या, विदिता नीतियया सा विदितनीति, सुशिक्षिता वाणी
यस्या. सा सुशिक्षितवाणी। स्त्रिया इति किम्—ग्रामणि ब्राह्मणकुलं
दृष्टिरस्य ग्रामणिदृष्टिः। भाषितपुंस्कादिति किम्—खट्वाभार्यः।
अनूङिति किम्—ब्रह्मबन्धूभार्यः। समानाधिकरण इति किम्—
कल्याण्या माता कल्याणीमाता। स्त्रियामिति किम्—कल्याणीप्रधान॰
येषां कल्याणीप्रधाना इमे। अपूरणीति किम्—कल्याणी पञ्चमी
यासां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः, कल्याणीदशमाः।

२०९—प्रधानपूरणीग्रहणं कर्त्तव्यम्॥ ६। ३। ३४॥

इह माभूत्। कल्याणपञ्चमीकः पक्ष इति। अप्रियादिष्विति
किम्—कल्याणीप्रियः।

२१०—दिङ्नामान्यन्तराले॥ २। २। २६॥

जो अन्तराल अर्थ में दिक् नाम सुबन्त शब्द, सुबन्त के साथ
समास को प्राप्त हों, सो बहुव्रीहि समास हो। मध्य कोण को
अन्तराल कहते हैं। दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं दिक् सा
दक्षिणपूर्वा दिक्, पूर्वोत्तरा, उत्तरपश्चिमा, पश्चिमदक्षिणा।

[२११—वा॰—सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावो वक्तव्यः
॥ २। २। २६॥

जो लिङ्गवाची सर्वनाम शब्द का समासादि सब वृत्तियों में

पुंवद्भाव कहना चाहिये। इस वर्त्तिक से दक्षिणा आदि पूर्वपदों को पुंवद्भाव हो जाता है।]

२१२–संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः सङ्ख्येये॥ २ । २ । २५ ॥

जो संख्येय में वर्तमान अव्यय, आसन्न, दूर, अधिक और सङ्ख्या, सुबन्त के साथ समास पावे, वह समास बहुव्रीहि हो। अव्यय—दशानां समीपे उपदशा॰, उपविंशाः [आसन्न–] आसन्नदशाः। [अदूर–] अदूरग्रामा वृत्ताः। [अधिक–] अधिकविंशाः। संख्या–द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः, त्रिचतुराः, द्विदशाः। संख्येयेति किम्। पञ्च ब्राह्मणाः। अव्ययासन्नादूराधिकसंख्या इति किम्—ब्राह्मणाः पञ्च। संख्येय इति किम्—अधिका विंशतिर्गवाम्।

२१३–बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् ॥५।४।७३॥

जो संख्येय में वर्तमान बहुव्रीहि उससे समासान्त डच् प्रत्यय हो। जैसे—उपदशाः, उपविंशाः, उपत्रिंशा, आसन्नदशा, अदूरदशा। संख्येय इति किम्। चित्रगु, शबलगुः। अबहुगणादिति किम्—उपबहवः, उपगणाः।

२१४–डच्प्रकरणे संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानं कर्त्तव्यं निस्त्रिंशाद्यर्थम् ॥ ५ । ४ । ७३ ॥

निर्गतानि त्रिंशत। निस्त्रिंशानि वर्षाणि देवदत्तस्य। निश्चत्वारिंशानि यज्ञदत्तस्य। निर्गतस्त्रिंशताङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंश खड्ग.।

२१५–तत्र तेनेदमिति सरूपे ॥ २ । २ । २७ ॥

इदम् अर्थ में सप्तम्यन्त सरूप और तृतीयान्त सरूप, सुबन्त के साथ समास पावे, सो बहुव्रीहि हो।

२१६–इच् कर्मव्यतिहारे ॥ ५ । ४ । १२७ ॥

कर्म के व्यतिहार अर्थ में जो बहुव्रीहि उससे समासान्त इच् प्रत्यय हो। और तिष्ठद्गुप्रभृति में "इच् [कर्मव्यतिहारे" गण-सूत्र] पढ़ा है इसलिये अव्यय जानना। केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं केशाकेशि, दण्डैर्दण्डैः प्रहृत्येदं युद्धं प्रवर्तते तत् दण्डादण्डि।

२१७–अन्येषामपि दृश्यते ॥ ६ । ३ । १३७ ॥

जिस शब्द को दीर्घादेश विधान कहीं न किया हो उसको दीर्घत्व इस सूत्र से जानिये। केशाकेशि, दण्डादण्डि इत्यादि।

२१८–द्विदण्डयादिभ्यश्च ॥ ५ । ४ । १२८ ॥

इच् प्रत्ययान्त द्विदण्डि, द्विमुसलि इत्यादि निपातन किये हैं।

२१९–तेन सहेति तुल्ययोगे ॥ २ । २ । २८ ॥

तुल्य योग अर्थ में सह शब्द तृतीयान्त सुबन्त के साथ समास पावे, सो बहुव्रीहि हो।

२२०–वोपसर्जनस्य ॥ ६ । ३ । ८२ ॥

जो उपसर्जन अर्थ में वर्तमान सह शब्द उसको स आदेश विकल्प करके हो। पुत्रेण सहागतः पिता सपुत्रः, सहपुत्रः; सच्छात्र आचार्यः, सहच्छात्रो वा; सकर्मकरः, सहकर्मकरो वा। तुल्ययोग इति किम्—सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी। उपसर्जनस्येति किम्—सहकृत्वा, सहयुध्वा।

२२१–प्रकृत्याशिष्यगोवत्सहलेषु ॥ ६ । ३ । ८३ ॥

आशीर्वाद अर्थ में उत्तरपद परे हो तो गो, वत्स और हल इनको वर्ज के सह शब्द प्रकृति करके रहे अर्थात् स आदेश न हो। स्वस्ति देवदत्ताय सहपुत्राय, सहच्छात्राय, सहामात्याय। आशिषीति किम्—सानुगाय दस्यवे दण्डं दद्यात्, सहानुगाय वा। अगोवत्स-

हलेष्विति किम्—स्वस्ति भवते सहगवे, सगवे; सहवत्साय, सवत्साय; सहहलाय, सहलाय । वोपसर्जनस्य [सा० २२०] इति पक्षे भवत्येव समासः ।

२२२–समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु ॥६।३।८४॥

जो मूर्ध प्रभृति और उदर्क वर्जित उत्तरपद परे हो तो समान शब्द को स आदेश हो। अनुभ्राता सगर्भ्यः, अनुसखा सयूथ्यः । अमूर्धप्रभृत्युदर्केष्विति किम्—समानमूर्धा, समानप्रभृतयः, समानोदर्काः ।

२२३–बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् ॥ ५ । ४ । ११३ ॥

बहुव्रीहि समास में स्वाङ्गवाची सक्थि और अक्षि शब्द से समासान्त षच् प्रत्यय हो। जैसे–दीर्घसक्थः, कल्याणाक्षः, लोहिताक्षः । जो स्त्री हो तो षित् होने से ङीष् प्रत्यय होता है—दीर्घसक्थी, कल्याणाक्षी इत्यादि । बहुव्रीहाविति किम्—परमसक्थि, परमाक्षि । सक्थ्यक्ष्णोरिति किम्—दीर्घजानुः, सुबाहुः । स्वाङ्गादिति किम्—दीर्घसक्थि शकटम्, स्थूलाक्षिरिक्षुः ।

२२४–अङ्गुलेर्दारुणि ॥ ५ । ४ । ११४ ॥

दारु अर्थ में अङ्गुलि शब्दान्त बहुव्रीहि समास से समासान्त षच् प्रत्यय हो । द्वे अङ्गुली यस्य द्व्यङ्गुलम्, त्र्यङ्गुलम्, चतुरङ्गुलं दारु । दारुणीति किम्—पञ्चाङ्गुलिर्हस्तः ।

२२५–द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः ॥ ५ । ४ । ११५ ॥

द्वि और त्रि से परे मूर्द्धन् शब्द से बहुव्रीहि समास में समासान्त ष प्रत्यय हो। जैसे—द्विमूर्धः, त्रिमूर्धः । द्वित्रिभ्यामिति किम्—उच्चैर्मूर्धा ।

२२६–अप् पूरणीप्रमाण्योः ॥ ५ । ४ । ११६ ॥

जो पूरण प्रत्ययान्त और प्रमाणी शब्दान्त बहुव्रीहि उससे समासान्त अप् प्रत्यय हो। जैसे—कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणाम्, ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः, कल्याणीदशमा रात्रयः, स्त्रीप्रमाणी यस्य ते स्त्रीप्रमाणाः कुटुम्बिनः, भार्याप्रधाना इत्यर्थः।

२२७—वा०—प्रधानपूरणीग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥५।४।११६॥

इह माभूत्—कल्याणीपञ्चमी अस्मिन् पक्षे कल्याणपञ्चमीकः [पक्षः]।

२२८—वा०—नेतुर्नक्षत्र उपसंख्यानम् ॥५।४।११६॥

मृगो नेता आसां रात्रीणां वा मृगनेत्रा रात्रयः, पुष्यनेत्राः। नक्षत्र इति किम्—देवदत्तनेतृकाः।

२२९—वा०—छन्दसि च नेतुरुपसंख्यानम् ॥५।४।११६॥

बृहस्पतिनेत्रा देवा, सोमनेत्राः।

२३०—मासात् भृतिप्रत्ययपूर्वपदात् ठञ्विधिः ॥ ५। ४। ११६॥

पञ्चको[1] मासोऽस्य पञ्चकमासिकः कर्मकारः, दशकमासिकः।

२३१—अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः ॥ ५। ४। ११७॥

अन्तर् और बहिस् शब्द से परे जो लोमन् शब्द तदन्त बहुव्रीहि से समासान्त अप् प्रत्यय हो। जैसे—अन्तर्गतानि लोमान्यस्यान्तर्लोमः प्रावारः, बहिर्गतानि लोमान्यस्य स बहिर्लोमः पटः।

२३२—अञ् नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् ॥ ५। ४। ११८॥

१. यहां "सोऽस्यांशवस्नभृतयः" (अष्टा० ५।१।५६) सूत्र से भृति अर्थ में कन् प्रत्यय होता है। पु० मी०।

नासिकान्त बहुव्रीहि समास से अच् प्रत्यय हो संज्ञा अर्थ में और नासिका के स्थान में नस् आदेश हो। द्रुरिव नासिकाऽस्य द्रुणसः, वार्ध्रीणसः, गोनसः संज्ञायामिति किम्—तुङ्गनासिकः। अस्थूलादिति किम्—स्थूलनासिको वराहः।

२३३–वा०–खुरखराभ्यां नस् वक्तव्यः ॥५।४।११८॥

खुरणाः, खरणाः। पक्ष में अच् प्रत्यय भी इष्ट है—खुरणसः, खरणसः।

२३४–उपसर्गाच्च ॥ ५ । ४ । ११६ ॥

उपसर्ग से परे जो नासिका शब्द तदन्त बहुव्रीहि से समासान्त अच् प्रत्यय हो और नासिका को नस् आदेश भी हो। जैसे–उन्नता नासिका अस्य स उन्नस, प्रगता नासिका अस्य प्रणसः।

२३५–वा०–वेर्ग्रो वक्तव्यः ॥ ५ । ४ । ११६ ॥

वि पूर्वक नासिका के स्थान में ग्र आदेश और अच् प्रत्यय भी हो। विगता नासिका अस्य स विग्रः।

२३६–सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः ॥ ५ । ४ । १२० ॥

इसमें सुप्रात इत्यादि बहुव्रीहि समास और अच् प्रत्ययान्त निपातन किये हैं। जैसे—शोभनं प्रातरस्य सुप्रातः, शोभनं श्वोऽस्य सुश्वः, शोभनं दिवा अस्य सुदिवः, शारिरिव कुक्षिरस्य शारिकुक्षः, चतस्रोऽश्रयोऽस्य स चतुरश्रः, एण्या इव पादावस्य एणीपदः, अजस्येव पादावस्य अजपदः, प्रष्ठा गोस्तस्येव पादावस्य प्रोष्ठपदः।

२३७–नञ्दुःसुभ्यो हलीसक्थ्योरन्यतरस्याम् ॥ ५ । ४ । १२१ ॥

नञ् दुस् और सु इन से परे जो हलि और सक्थि तदन्त बहु-

ब्रीहि से समासान्त अच् प्रत्यय विकल्प करके हो। जैसे—अविद्यमाना हलिरस्य अहलः, अहलिः; दुर्हलः, दुर्हलिः; सुहलः, सुहलिः; अविद्यमाने सक्थ्यस्य असक्थः, असक्थिः; दुःसक्थः, दुःसक्थिः; सुसक्थः, सुसक्थिः।

२३८—नित्यमसिच् प्रजामेधयोः ॥ ५ । ४ । १२२ ॥

नञ् दुस् और सु से परे जो प्रजा और मेधा तदन्त बहुव्रीहि से नित्य ही समासान्त असिच् प्रत्यय हो। जैसे—अविद्यमाना प्रजाऽस्य अप्रजाः, दुष्प्रजाः, सुप्रजाः, अविद्यमाना मेधाऽस्य अमेधाः, दुर्मेधाः, सुमेधाः। नित्य ग्रहण इसलिये है कि पूर्वसूत्र के विकल्प से दो प्रयोग न हों।

२३९—बहुप्रजाश्छन्दसि ॥ ५ । ४ । १२३ ॥

बहुप्रजाः यह वेद में निपातन किया है। छन्दसीति किम्—बहुप्रजो ब्राह्मणः।

२४०—धर्मादनिच् केवलात् ॥ ५ । ४ । १२४ ॥

केवल अर्थात् एक ही शब्द से परे जो धर्म शब्द उससे समासान्त अनिच् प्रत्यय हो। जैसे—कल्याणो धर्मोऽस्य कल्याणधर्मा, प्रियधर्मा। केवलादिति किम्—परमः स्वो धर्मोऽस्य परमस्वधर्मः।

२४१—जम्भा सुहरिततृणसोमेभ्यः ॥ ५ । ४ । १२५ ॥

सु, हरित, तृण और सोम शब्द से परे यह जम्भा शब्द [कृत-समासान्त] निपातन किया है, जम्भा नाम मुख्य दांतों का और खाने योग्य वस्तु का भी है। शोभनो जम्भोऽस्य सुजम्भा देवदत्तः, हरितजम्भा, तृणजम्भा, सोमजम्भा।

में। लुब्ध नाम व्याध का है। दक्षिणेर्मं व्रणमस्य दक्षिणेर्मा मृगः *, ईर्म व्रणमुच्यते, दक्षिणमङ्ग व्रणितमस्य व्याधेनेत्यर्थ। लुब्धयोग, इति किम्—दक्षिणेर्म शकटम्।

२४३—प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः ॥ ५ । ४ । १२९ ॥

प्र और सम् से परे जानु शब्द को समासान्त ज्ञु आदेश हो। जैसे—प्रकृष्टे संसृष्टे च जानुनी अस्य प्रज्ञुः, संज्ञुः।

२४४—ऊर्ध्वाद् विभाषा ॥ ५ । ४ । १३० ॥

ऊर्ध्व शब्द से परे जानु शब्द को विकल्प करके ज्ञु आदेश हो। जैसे—ऊर्ध्वे जानुनी अस्य ऊर्ध्वज्ञुः, ऊर्ध्वजानुः।

२४५—ऊधसोऽनङ् ॥ ५ । ४ । १३१ ॥

ऊधस् † शब्दान्त बहुव्रीहि को समासान्त अनङ् आदेश हो। जैसे—कुण्डमिवोधोऽस्याः कुण्डोध्नी, घटोध्नी गौः॥

२४६—वा०—ऊधसोऽनङि स्त्रीग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥ ५ । ४ । १३१ ॥

इह माभूत्—महोधाः पर्जन्य, घटोधो धेनुकम्।

२४७—धनुषश्च ॥ ५ । ४ । १३२ ॥

धनुष् शब्दान्त बहुव्रीहि को अनङ् आदेश हो। जैसे—‡ शार्ङ्गं धनुरस्य शार्ङ्गधन्वा, गाण्डीवधन्वा, पुष्पधन्वा, अधिज्यधन्वा।

२४८—वा संज्ञायाम् ॥ ५ । ४ । १३३ ॥

---

* जिस मृग के दक्षिण पार्श्व में बाण आदि से क्षत किया हो, उसको दक्षिणेर्मा कहते हैं, क्योंकि ईर्म क्षत का नाम है।

† पशुओं के ऊपर जो दूध का स्थान अर्थात् थन है उसको ऊधस् कहते हैं।

‡ शार्ङ्ग आदि धनुष विशेष के नाम हैं।

संज्ञाविषय में धनुः शब्दान्त बहुव्रीहि को विकल्प करके अनङ् आदेश हो। जैसे— * शतधनुः, शतधन्वा, दृढधनुः, दृढधन्वा।

२४९–जायाया निङ् ॥ ५ । ४ । १३४ ॥

जायान्त बहुव्रीहि को समासान्त निङ् आदेश हो। युवतिर्जायाऽस्य युवजानिः, वृद्धजानिः।

२५०–गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ॥ ५ । ४ । १३५ ॥

उत्, पूति, सु और सुरभि शब्दों से परे गन्ध शब्द को समासान्त इत् आदेश हो। उद्गतो गन्धाऽस्य उद्गन्धिः, पूतिगन्धिः, सुगन्धिः, सुरभिगन्धिः। एतेभ्य इति किम्—तीव्रगन्धो वातः।

२५१–वा०–गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तग्रहणम् ॥५।४।१३५॥

गन्ध शब्द को इत्त्व विधान में उसी का अवयव हो तो इत्त्व होता है [इससे] यहां नहीं होता †। शोभनो गन्धोऽस्य सुगन्ध आपणः।

२५२–अल्पाख्यायाम् ॥ ५ । ४ । १३६ ॥

अल्प अर्थ में वर्तमान बहुव्रीहि समासान्त गन्ध शब्द को इत् आदेश हो। जैसे—सूपाऽल्पोऽस्मिन् सूपगन्धि भोजनम्, अल्पमस्मिन् भोजने घृतं घृतगन्धि, क्षीरगन्धि, तैलगन्धि, दधिगन्धि, तक्रगन्धि इत्यादि।

२५३–उपमानाच्च ॥ ५ । ४ । १३७ ॥

उपमान वाची से परे गन्ध शब्द को इत् आदेश हो। पद्मस्येव गन्धोऽस्य पद्मगन्धि, उत्पलस्येव गन्धोऽस्य पुत्रस्य तदुत्पलगन्धि, करीषगन्धि, कुमुदगन्धि।

२५४-पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ॥५।४।१३८॥

बहुव्रीहि समास में हस्ति आदि शब्दों को छोड़ के उपमान वाची शब्द से परे पाद शब्द के अकार का लोप हो। व्याघ्रस्येव पादावस्य शुन स व्याघ्रपात्, सिंहपात्। अहस्त्यादिभ्य इति किम्—हस्तिपाद, कटोलपादः।

२५५-कुम्भपदीषु च ॥ ५ । ४ । १३९ ॥

कुम्भपदी आदि शब्दों में पाद शब्द के अकार का लोप निपातन से किया है। कुम्भपदी, शतपदी, अष्टापदी इत्यादि।

२५६-सङ्ख्यासुपूर्वस्य च ॥ ५ । ४ । १४० ॥

बहुव्रीहि [समास में] सङ्ख्या और सु पूर्वक पाद शब्द के अकार का लोप हो। द्वौ पादावस्य द्विपात्, त्रिपात्, चतुष्पात्, शोभनौ पादावस्य सुपात्।

२५७ वयसि दन्तस्य दतृ ॥ ५ । ४ । १४१ ॥

सङ्ख्या और सुपूर्वक बहुव्रीहि [समास में] दन्त शब्द को समासान्त दतृ आदेश हो। द्वौ दन्तावस्य द्विदन्, त्रिदन्, चतुर्दन्, शोभना दन्ता अस्य सुदन् कुमार। वयसीति किम्-द्विदन्तो कुञ्जर।

२५८-छन्दसि च ॥ ५ । ४ । १४२ ॥

वेद में बहुव्रीहि म दन्त शब्द को समासान्त दतृ आदेश हो। जैसे—पत्रदन्तमालभेत, उभयदत आलभते।

२५९-स्त्रियां संज्ञायाम् ॥ ५ । ४ । १४३ ॥

जहां स्त्री की संज्ञा करना हो वहां बहुव्रीहि में दन्त शब्द को

समासान्त दतृ आदेश हो । अयादती, फालदती । संज्ञायामिति किम्—समदन्ती, स्निग्धदन्ती ।

२६०–विभाषा श्यावारोकाभ्याम् ॥ ५ । ४ । १४४ ॥

श्याव और अरोक शब्द से परे बहुव्रीहि में दन्त शब्द को विकल्प करके समासान्त दतृ आदेश हो । श्यावा दन्ता अस्य श्यावदन्, श्यावदन्तः, अरोकदन्, अरोकदन्तः । अरोकनाम दीप्तिरहितः ।

२६१–अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च ॥५।४।१४५॥

अग्रान्त शब्द, शुद्ध, शुभ्र, वृष और वराह इनसे परे बहुव्रीहि में दन्तशब्द को विकल्प करके समासान्त दतृ आदेश हो । जैसे—कुड्मलाग्रमिव दन्ता अस्य कुड्मलाग्रदन्, कुड्मलाग्रदन्तः; शुद्धदन्, शुद्धदन्तः; शुभ्रदन्, शुभ्रदन्तः; वृषदन्, वृषदन्तः; वराहदन्, वराहदन्तः ।

२६२–ककुदस्यावस्थायां लोपः ॥ ५ । ४ । १४६ ॥

अवस्था अर्थ गम्यमान हो तो बहुव्रीहि में ककुद शब्द के अन्त का समासान्त लोप हो । असंजातककुत् बालः, बाल इत्यर्थः; पूर्णककुत्, वृद्धवया वृष इत्यर्थः. स्थूलककुत, बलवानित्यर्थः । अवस्थायामिति किम्—श्वेतककुदः ।

२६३–त्रिककुत् पर्वते ॥ ५ । ४ । १४७ ॥

पर्वत अर्थ में त्रिककुत् निपातन किया है । त्रीणि ककुदान्यस्य त्रिककुत् पर्वतः । पर्वत इति किम्—त्रिककुदोऽन्यः ।

२६४–उद्विभ्यां काकुदस्य ॥ ५ । ४ । १४८ ॥

उत् और वि से परे बहुव्रीहि में जो काकुद शब्द उसके अन्त का समासान्त लोप हो । उद्गतं काकुदमस्य उत्काकुत्, विकाकुत् । पूर्णात् काकुदस्य ।

२६५—पूर्णाद्विभाषा ॥ ५ । ४ । १४९ ॥
बहुव्रीहि में पूर्ण शब्द से परे जो काकुद उसके अन्त का समासान्त लोप विकल्प करके हो । पूर्णकाकुत्, पूर्णकाकुद ।

२६६—सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः ॥ ५ । ४ । १५० ॥
सुहृद् और दुर्हृद् निपातन मित्र और अमित्र अर्थों में किये हैं। शोभनं हृदयमस्य सुहृन्मित्रम्, दुष्टं हृदयमस्य दुर्हृदमित्रः । मित्रामित्रयोरिति किम् । सुहृदयः कारुणिकः, दुर्हृदयश्चौरः ।

२६७—उरःप्रभृतिभ्यः कप् ॥ ५ । ४ । १५१ ॥
उरस् आदि शब्द जिसके अन्त में हों उस बहुव्रीहि समास से समासान्त कप् प्रत्यय हो । जैसे—व्यूढमुरोऽस्य व्यूढोरस्कः, प्रियसर्पिष्कः, अवमुक्तोपानत्कः ।

२६८—इनः स्त्रियाम् ॥ ५ । ४ । १५२ ॥
इन् प्रत्ययान्त बहुव्रीहि समास से समासान्त कप् प्रत्यय हो । बहवो दण्डिनोऽस्यां शालायां बहुदण्डिका शाला, बहुच्छात्रिका, बहुस्वामिका नगरी, बहुवाग्मिका सभा । स्त्रियामिति किम्—बहुदण्डी क्ष, बहुदण्डिको वा राजा ।

२६९—नद्यृतश्च ॥ ५ । ४ । १५३ ॥
नद्यन्त और ऋकारान्त बहुव्रीहि समास से कप् प्रत्यय हो । जैसे । बहव्यः कुमार्योऽस्यां शालायां सा बहुकुमारीका शाला, बहुब्रह्मबन्धूका देशः । ऋतः—बहवः कर्तारोऽस्य बहुकर्तृको यज्ञः ।

[२८०—न कपि ॥ ७ । ४ । १४ ॥

क्ष यहां 'शेषाद्विभाषा' इस सूत्र से शेष अविहित समासान्त अर्थों विकल्प करके कप् प्रत्यय हो जाता है ।

कप् परे रहने पर अण् को ह्रस्व नहीं होता। जैसे-बहुकुमारीका शाला, बहुब्रह्मबन्धूका देश.।

२७१–शेषाद्विभाषा ॥ ५ । ४ । १५४ ॥

जिस बहुव्रीहि से सामासान्त कार्य नहीं कहा उससे विकल्प करके कप् प्रत्यय हो।

२७२–आपोऽन्यतरस्याम् ॥ ७ । ४ । १५ ॥

कप परे रहने पर आबन्त को विकल्प करके ह्रस्व हो। जैसे—बहुखट्वक., बहुखट्वाक', बहुखट्वा; बहुमालक', बहुमालाकः, बहुमाला।]

२७३–न संज्ञायाम् ॥ ५ । ४ । १५५ ॥

बहुव्रीहि समास से संज्ञा विषय में समासान्त कप् प्रत्यय न हो। विश्व यशाऽस्य स विश्वयशाः।

२७४–ईयसश्च ॥ ५ । ४ । १५६ ॥

ईयसन्त बहुव्रीहि समास से कप् प्रत्यय न हो। बहवः श्रेयांसोऽस्य बहुश्रेयान्, बह्व्य श्रेयस्योऽस्य बहुश्रेयसी। ह्रस्वत्वमपि न भवति—ईयसो बहुव्रीहौ पुंवदिति वचनात्।

२७५–वन्दिते भ्रातुः ॥ ५ । ४ । १५७ ॥

प्रशसा अर्थ में भ्रातृ शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त कप् प्रत्यय न हो। शोभनो भ्राताऽस्य सुभ्राता। वन्दित इति किम्-मूर्खभ्रातृकः, दुष्टभ्रातृकः।

२७६–ऋतश्छन्दसि ॥ ५ । ४ । १५८ ॥

वैदिक प्रयोग विषय में ऋकारान्त बहुव्रीहि समास से कप् प्रत्यय न हो। पण्डिता माताऽस्य स पण्डितमाता, विद्वान्पिताऽस्य स विद्वत्पिता. विदुषी स्वसाऽस्य स विद्वत्स्वसा, सुहोता।

२७७ नाडीतन्त्र्योः स्वाङ्गे ॥ ५ । ४ । १५९ ॥

स्वाङ्गवाची नाडी और तन्त्री शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त कप् प्रत्यय न हो। बह्व्यो नाड्योऽस्य बहुनाडिः कायः, बहुतन्त्री ग्रीवा। स्वाङ्ग इति किम्—बहुनाडीकः स्तम्भः, बहुतन्त्रीका वीणा।

२७८—निष्प्रवाणिश्च ॥ ५ । ४ । १६० ॥

प्रवाणी नाम कोरी की शलाई का है। निर्गता प्रवाणी यस्मात् स निष्प्रवाणिः पटः, निष्प्रवाणिः कम्बलः, प्रत्यग्र इत्यर्थः।

२७९—सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ ॥ २ । २ । ३५ ॥

बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त और विशेषण पद का पूर्वनिपात हो। जैसे—सप्तमी-कण्ठेकालः, उरसिलोमा। विशेषण—चित्रगुः। शबलगुः।

२८०—वा०—सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम् ॥२।२।३५॥

सर्वनाम और संख्यावाची शब्दों का पूर्वनिपात हो। सर्वश्वेतः, सर्वकृष्णः, द्विशुक्लः, द्विकृष्णः, विश्वदेवः, विश्वयशाः, द्विपुत्रः, द्विभार्यः। अथ यत्र संख्यासर्वनामयोरेव बहुव्रीहिः कस्य तत्र पूर्वनिपातन भवितव्यम्? परत्वात् संख्यायाः। द्व्यन्यः त्र्यन्यः।

२८१—वा०—वा प्रियस्य पूर्वनिपातो भवतीति वक्तव्यम्॥ २ । २ । ३५ ॥

प्रिय शब्द का विकल्प करके पूर्व निपात हो। प्रियधर्मः, धर्मप्रियः।

२८२—वा०—सप्तम्याः पूर्वनिपाते गड्वादिभ्यः परवचनम् ॥ २ । २ । ३५ ॥

बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त शब्दों का पूर्वनिपात "सप्तमी

वि०" (सा० २७९) इस सूत्र से कर चुके हैं, सो गड्वादि शब्दों में न हो अर्थात् परनिपात हो। जैसे—गडुकण्ठ, गडुशिराः।

२८३—निष्ठा ॥ २ । २ । ३६ ॥

निष्ठान्त शब्द का प्रयोग बहुव्रीहि समास में पूर्व हो। अधीता विद्या येन अधीतविद्य, प्रक्षालितहस्तपाद, कृतकट, कृतधर्म, कृतार्थ, संशितव्रतः।

२८४—वा०—निष्ठायाः पूर्वनिपाते जातिकालसुखादिभ्यः परवचनम् ॥ २ । २ । ३६ ॥

जहां निष्ठान्त शब्दों का पूर्वनिपात किया है वहां जातिवाची, कालवाची और सुखादि शब्दों से पूर्वनिपात न हो अर्थात् परप्रयोग किया जावे। जैसे—शार्ङ्गजग्धी, पलाण्डुभक्षिती, मासजातः, संवत्सरजात, सुखजात, दुःखजात।

२८५—वा०—प्रहरणार्थेभ्यश्च परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः इति वक्तव्यम् ॥ २ । २ । ३६ ॥

शस्त्रवाची शब्दों से परे निष्ठान्त और सप्तम्यन्त शब्द होने चाहियें, असिरुद्यतो येन असुद्यत, मुसलोद्यत, दण्डपाणिः।

२८६—वाहिताग्न्यादिषु ॥ २ । २ । ३७ ॥

बहुव्रीहि समास में आहिताग्नि इत्यादि शब्दों में निष्ठान्त का पूर्व निपात विकल्प करके हो। अग्निराहितो येन अग्न्याहित, आहिताग्नि; जातपुत्र, पुत्रजात; जातदन्तः, दन्तजातः इत्यादि।

अब इसके आगे द्वन्द्वसमास का प्रकरण है

२८७—चार्थे द्वन्द्वः ॥ २ । २ । २९ ॥

जो चकार के अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्त, वे परस्पर समास को पावें सो द्वन्द्वसंज्ञक समास हो। उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः। द्वन्द्व समास में पूर्व पर सब शब्दों के अर्थ प्रधान रहते हैं। चकार के चार अर्थ हैं—समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतर और समाहार। सो समुच्चय और अन्वाचय इन अर्थों में असमर्थ होने से समास में नहीं होता और इतरेतर तथा समाहार अर्थों में द्वन्द्व समास होता है। प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च तौ प्लक्षन्यग्रोधौ, धवश्च खदिरश्च पलाशश्च ते धवखदिरपलाशाः।

२८८—द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे ॥ ५ । ४ । ७ ॥

जो द्वन्द्व समाहार अर्थ में वर्तमान हो सो चवर्गान्त, दकारान्त, [षकारान्त] और हकारान्त द्वन्द्व समास से समासान्त टच् प्रत्यय हो। जैसे वाक् च त्वक् च अनयोः समाहारः वाक्त्वचम्, स्रक् च त्वक् च स्रक्त्वचम्, श्रीश्च स्रक् च श्रीस्रजम्, इडूर्जम्, वागूर्जम्; समिधश्च दृषदश्च समिद्दृषदम्, संपद्विपदम्, वाग्विप्रुषम्, छत्रोपानहम्, धेनुगोदुहम्। द्वन्द्वादिति किम्—तत्पुरुषान् मा भूत्—पञ्चवाचः समाहृताः पञ्चवाक्। चुदषहान्तादिति किम्—वाक्समित्।

२७९—उपसर्जनं पूर्वम् ॥ २ । २ । ३० ॥

सब समासों में उपसर्जन संज्ञक का पूर्व प्रयोग करना चाहिये। कष्टं श्रितः कष्टश्रितः, शङ्कुलाखण्डः इत्यादि।

२६०—राजदन्तादिषु परम् ॥ २ । २ । ३१ ॥

सब समासों में राजदन्त आदि शब्दों का परे प्रयोग होता है। दन्तानां राजा राजदन्तः, अग्रेवणम्, लिप्तवासितम्।

२६१—द्वन्द्वे घि ॥ २ । २ । ३२ ॥

द्वन्द्व समास में घिसञ्ज्ञक शब्द का पूर्वनिपात होता है। पटुश्च गुप्तश्च पटुगुप्तौ।

२९२–वा०—अनेकप्राप्तावेकस्य नियमः शेषेष्वनियमः ॥ २ । २ । ३२ ॥

जहां अनेक घिसञ्ज्ञकों का पूर्वनिपात प्राप्त हो वहां एक घिसंज्ञक पूर्व प्रयोक्तव्य है और जो शेष रहें उनमें कुछ नियम नहीं है। पटुमृदुशुक्ला, पटुशुक्लमृदव।

२९३–वा०—ऋतुनक्षत्राणामानुपूर्व्येण समानाक्षराणां पूर्वनिपातो वक्तव्यः ॥ २ । २ । ३२ ॥

ऋतु और नक्षत्र जिस क्रम से पढ़े लिखे और समझे जाते हैं उनका उसी क्रम से पूर्व निपात होना चाहिये। जैसे—शिशिरवसन्तावुदगयनस्थौ, कृत्तिकारोहिण्य, चित्रास्वाती।

२९४–वा०—अभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम् ॥ २ । २ । ३२ ॥

द्वन्द्व समास में पूजित (मान्य) का पूर्व निपात होता है। माता च पिता मातापितरौ, श्रद्धा च मेधा च श्रद्धामेधे, दीक्षा च तपश्च दीक्षातपसी।

२९५–वा०—लघ्वक्षरं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम् ॥ २ । २ । ३२ ॥

जिस पद में थोड़ी मात्रा हों उस पद का द्वन्द्वसमास में पूर्व निपात होता है। कुशाश्च काशाश्च कुशकाशम्, शरचापम्, शरशादम्।

२९६–वा०—अपर आह सर्वत एवाभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम् लघ्वक्षरादपीति ॥ २ । २ । ३२ ॥

किन्हीं आचार्यों का ऐसा मत है कि सब विधियों का अपवाद होके अभ्यर्हित का ही पूर्वनिपात होना चाहिये। जैसे—दीक्षातपसी, श्रद्धातपसी।

२९७—वा०—वर्णानामानुपूर्व्येण पूर्वनिपातो भवतीति वक्तव्यम् ॥ २ । २ । ३२ ॥

ब्राह्मण आदि वर्णों का यथाक्रम पूर्वनिपात जानना चाहिये। ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः।

२९८—वा०—भ्रातुश्च ज्यायसः पूर्वनिपातो भवतीति वक्तव्यम् ॥ २ । २ । ३२ ॥

द्वन्द्व समास में बड़े भाई का पूर्वनिपात होता है। युधिष्ठिरार्जुनौ, रामलक्ष्मणौ।

२९९—वा०—संख्याया अल्पीयस्याः पूर्वनिपातो भवतीति वक्तव्यम् ॥ २ । २ । ३२ ॥

द्वन्द्वसमास में अल्पसंख्यवाची शब्दों का पूर्वनिपात होता है। एकादश, द्वादश, द्वित्राः, त्रिचतुराः, नवतिशतम्।

३००—वा०—धर्मादिषूभयं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम् ॥ २ । २ । ३२ ॥

धर्म आदि शब्दों में दोनों पदों का पूर्वनिपात होता है। धर्मार्थौ, अर्थधर्मौ, कामार्थौ, अर्थकामौ, गुणवृद्धी, वृद्धिगुणौ, आद्यन्तौ, अन्तादी।

३०१—अजाद्यदन्तम् ॥ २ । २ । ३४ ॥

जिसके आदि में अच् और अकार अन्त में हो उस पद का पूर्वनिपात होता है। उष्ट्रखरौ, ईशकृष्णौ, इन्द्ररामौ।

३०२-वा०-द्वन्द्वे ध्यजाद्यन्तं विप्रतिषेधेन ॥२।२।३४॥

जहां अजादि अदन्त और घिसंज्ञक का द्वन्द्व समास हो वहां विप्रतिषे। से] अज दि अदन्त का पूर्वनिपात होता है। जैसे— न्द्राग्नी, इन्द्रवायू। तरकरणं किम्—अश्वावृषो, वृषाश्वे।

३०३-द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् ॥ २ । ४ । २ ॥

प्राणि तूर्य ❀ और सेना के अङ्गों का जो द्वन्द्वसमास सो एक-वचन हो। प्राण्यङ्ग-पाणी च पादौ च पाणिपादम्, शिरोग्रीवम्। तूर्याङ्ग—मार्दङ्गिकपाणविकम्, वीणावादकपरिवादकम्। सेनाङ्ग— रथिकाश्वारोहम्, रथिकपादातम्।

३०४-अनुवादे चरणानाम् ॥ २ । ४ । ३ ॥

अनुवाद † अर्थ में चरणवाची सुबन्तों का जो द्वन्द्व समास हो एक वचन होता है। स्थेणोरद्यतन्या चेति वक्तव्यम्। जहां स्था और इण् धातु का लुङ् लकार का प्रयोग हो वहां चरण वाची सुबन्तों का द्वन्द्व एक वचन होता है। उदगात् कठकालापम्, प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्[1]। अनुवाद इति किम्—उदगुः कठकालापाः, प्रत्यष्ठुः कठकौथुमाः। स्थेणोरिति किम्—अनन्दिषुः कठकालापाः। अद्यतन्यामिति किम्—उद्यन्ति कठकालापाः। इस सूत्र में चरण शब्द से उन लोगों का ग्रहण है कि जो वेद की शाखाओं के निमित्त

❀ ढाल आदि बाजों का यह नाम है।

† अनुवाद उसे कहते हैं जो पूर्व कहे प्रसंग को किसी प्रयोजन के लिये फिर कहना है।

1. यहां पर कठ कलापों के उत्कर्ष का अनुवाद होगा वहां उदाहरण होगा, और जहां उत्कर्ष की प्रथमतः प्रतीति होगी वहां पर प्रत्युदाहरण होगा। पु० मी०।

अर्थात् जिनके नाम से इस समय भी शाखा प्रसिद्ध हैं। जैसे—कठ, मुण्डक, चरक इत्यादि।

३०५–अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम् ॥ २ । ४ । ४ ॥

जो क्रतु वाची शब्द नपुंसक न हो तो अध्वर्यु नाम यजुर्वेद में विधान किये क्रतु नाम यज्ञवाची सुबन्तों का द्वन्द्व समास एकवचन हो। जैसे—अर्काश्वमेधम्। सायान्हातिरात्रम्। अध्वर्युक्रतुरिति किम्—इषुवज्रौ, उद्भिद्बलभिदौ[1]। अनपुंसकमिति किम्—राजसूयवाजपेये। इह कस्मान्न भवति—दर्शपौर्णमासौ ? क्रतुशब्दः सोमयज्ञेषु रूढः।

३०६–अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् ॥ २ । ४ । ५ ॥

जिन ग्रन्थों का पठनपाठन अतिसमीप होता हो उन सुबन्तों का द्वन्द्व समास एकवचन हो। पदकक्रमकम्, क्रमकवार्तिकम्, अष्टाध्यायीमहाभाष्यम्। अध्ययनत इति किम्—पितापुत्रौ। अविप्रकृष्टाख्यानामिति किम्—याज्ञिकवैयाकरणौ।

३०७–जातिरप्राणिनाम् ॥ २ । ४ । ६ ॥

प्राणिवर्जित जातिवाची सुबन्तों का द्वन्द्व समास एकवचन हो। आराशस्त्रि, धानाशष्कुलि, शय्यासनम्। जातिरिति किम्—नन्दकपाञ्चजन्यौ। अप्राणिनामिति किम्—ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः।

३०८–विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः ॥ २ । ४ । ७ ॥

भिन्न लिङ्ग नदी और भिन्न लिङ्ग देशवाची सुबन्तों का द्वन्द्व समास एकवचन हो ग्राम को छोड़ के। नदी—उद्ध्यश्च इरावती च उद्ध्येरावति, गङ्गा च शोणश्च गङ्गाशोणम्। देश—कुरवश्च कुरुक्षेत्रं

१. इषु, वज्र, उद्भिद् और बलभिद् यज्ञों का विधान सामवेर के ताण्ड्य ब्राह्मण में किया है। यु० मी०।

च कुरुकुरुक्षेत्रम्, कुरुकुरुजाङ्गलम्। विशिष्टलिङ्ग इति किम्—गङ्गा-यमुने, मद्रकेकयाः।

३०९—वा०—अग्राम इत्यत्र नगराणां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

ग्रामों के द्वन्द्व के एकवचन के निषेध में नगरों का प्रतिषेध करना चाहिये अर्थात् ग्राम के प्रतिषेध से नगरों का प्रतिषेध न हो, वहां एकवचन हो जावे। जैसे—मथुरापाटलिपुत्रम्।

३१०—वा०—उभयतश्च ग्रामाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

उभयत अर्थात् ग्राम और नगरों का अवयव जो द्वन्द्वसमास उसको एकवचन न हो। सौर्यं नाम नगरम्, केतवता नाम ग्रामः—सौर्यं च केतवता च सौर्यकेतवते। जाम्बवं नगरं, शालूकिनी ग्रामः—जाम्बवशालूकिन्यौ।

निरवसित कहाते हैं। अनिरवसित शूद्रों का द्वन्द्व समास एकवचन हो। तक्षायस्कारम्, रजकतन्तुवायम्। अनिरवसितानामिति किम्—चण्डालमृतपाः।

३१४—गवाश्वप्रभृतीनि च ॥ २ । ४ । ११ ॥

यहां "गवाश्वम्" इत्यादि शब्द द्वन्द्व समास में एकवचनान्त निपातन किये हैं। गवाश्वम्, गवाविकम्, गवैडकम्, अजाविकम्, अजैडकम्। गवाश्वप्रभृतिषु यथोच्चारितं द्वन्द्ववृत्तं द्रष्टव्यम्। रूपान्तरे तु नायं विधिर्भवतीति * गोऽश्वौ, [गोऽश्वम्]। पशुद्वन्द्वविभाषैव भवति[1]।

३१५—विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम् ॥ २ । ४ । १२ ॥

वृक्ष, मृग, तृण, धान्य, व्यञ्जन, पशु, शकुनि, अश्ववडव, पूर्वापर, अधरोत्तर इन सुबन्तों का द्वन्द्व समास परस्पर विकल्प करके एकवचन हो। वृक्ष—प्लक्षन्यग्रोधम्, प्लक्षन्यग्रोधाः। मृग—रुरुपृषतम्, रुरुपृषताः। तृण—कुशकाशम्, कुशकाशाः। धान्य—व्रीहियवम्, व्रीहियवाः। व्यञ्जनम्—दधिघृतम्, दधिघृते। पशु—गोमहिषम्, गोमहिषाः। शकुनि—तित्तिरिकपिञ्जलम्, तित्तिरिकपिञ्जलाः, हंसचक्रवाकम्, हंसचक्रवाकाः; अश्ववडवम्, अश्ववडवौ; पूर्वापरम्, पूर्वापरे; अधरोत्तरम्, अधरोत्तरे।

३१६—वा०—बहुप्रकृतिः फलसेनावनस्पतिमृगशकुनिक्षुद्रजन्तुधान्यतृणानाम् ॥

* रूपान्तर अर्थात् जिस पक्ष में अवङ् आदेश नहीं होता वहां यह एकवचन विधि नहीं होता।

[1] उत्तरसूत्रेणेति शेषः। यु० मी०

एषां बहुप्रकृतिरेव द्वन्द्व एकवद्भवति * न द्विप्रकृतिः। बदरामलके, रथिकाश्वारोहौ, पुत्रान्यमाधौ, रुरुपृषतौ, हंसचक्रवाकौ, कालिचे, व्रीहियवौ, कुशकाशौ।

२१७–विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि ॥२।४।१३॥

जो भिन्न द्रव्यवाची और परस्पर विरुद्धार्थ सुबन्तों का द्वन्द्व, वह एकवचन विकल्प करके हो। शीतोष्णे; सुखदुःखम्, सुखदुःखे; जीवितमरणम्, जीवितमरणे। विप्रतिषिद्धमिति किम्—कामक्रोधौ। अनधिकरणवाचिनामिति किम्—शीतोष्णे उदके।

२१८–न दधिपयआदीनि ॥ २ । ४ । १४ ॥

दधिपय आदि शब्दों [का] द्वन्द्व एक वचन न हो। दधि च पयश्च ते दधिपयसी, सर्पिर्मधुनी, मधुसर्पिषी, ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ इत्यादि।

२१९–अधिकरणैतावत्त्वे च ॥ २ । ४ । १५ ॥

अधिकरणवाची द्वन्द्व समास के एतावत्त्वनाम परिमाण अर्थ में एकवचन हो। चतुस्त्रिंशद्दन्तोष्ठाः, दश मार्दङ्गिकपाणविकाः।

२२०–विभाषा समीपे ॥ २ । ४ । १६ ॥

अधिकरण के एतावत्त्व के समीप अर्थ में एकवचन विकल्प करके हो। उपदशं दन्तोष्ठम्, उपदशा दन्तोष्ठाः; उपदशं मार्दङ्गिकपाणविकम्, उपदशा मार्दङ्गिकपाणविकाः।

२२१–स नपुंसकम् ॥ २ । ४ । १७ ॥

जिस द्विगु और द्वन्द्व को एकवद्भाव [का] विधान किया है सो

---

* बहुप्रकृति अर्थात् जहां बहुवचनान्त शब्दों का द्वन्द्व हो वहां एक वचन [illegible]। "बदरामलके" यहां द्विवचनान्त के होने से एक वचन न हुआ।

नपुंसक लिङ्ग होता है, द्विगु—पञ्चगवम्, दशगवम। द्वन्द्व—पाणिपादम्, शिरोग्रीवम् इत्यादि।

परपद का लिङ्ग प्राप्त हुआ था उसका अपवाद यह सूत्र है।

३२२–अव्ययीभावश्च ॥ २ । ४ । १८ ॥

अव्ययीभाव समास नपुंसक लिङ्ग हो।

३२३–वा०—पुण्यसुदिनाभ्यामह्नः क्लीबतेष्यते ॥ २ । ४ । ३० ॥

जैसे—पुण्य च तदहश्च पुण्याहम्, सुदिनाहम्।

३२४–वा०—पथ संख्याव्ययादे क्लीबतेष्यते ॥ २ । ४ । ३० ॥

संख्या और अव्यय जिसके आदि में हो ऐसे पथिन् शब्द को नपुंसकलिङ्ग हो। त्रिपथम्, चतुष्पथम्, विपथम्, सुपथम्।

३२५–वा०–क्रियाविशेषणाना च क्लीबता वक्तव्या ॥

मृदु पचति, शोभन पचति।

शेषएक प्रकरणम्

३२६–[1] सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ॥१।२।६४॥

---

१. सिद्धान्तकौमुदी आदि अनार्ष क्रमविपरीत ग्रन्थ पढ़ने वाले आधुनिक वैयाकरण एकशेष को द्वन्द्व समास का एक भेद समझते हैं। परन्तु यह उनकी बड़ी भूल है। एकशेष प्रकरण अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद के अन्त में पढ़ा है और समास प्रकरण अष्टाध्यायी के द्वितीयाध्याय के प्रथम और द्वितीय पाद में। द्वन्द्व समास तो द्वितीय पाद के अन्त में है। तब भला एकशेष द्वन्द्व का भेद कैसे हो सकता है।

जो तुल्य रूप शब्द हों उनका एक विभक्ति परे हो तो एक शेष था अन्य रूपों की निवृत्ति हो। वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षौ, वृक्षश्च वृक्षश्च क्षश्च वृक्षाः, इत्यादि बहुत उदाहरण होते हैं। सरूपाणामिति कम्—प्लक्षन्यग्रोधाः। रूपग्रहणे किम्—भिन्नेऽप्यर्थे यथा स्यात्। क्षा, पादाः, माषा इति। एकग्रहणं किम्—द्विबहोः शेषो माभूत्। कविभक्ताविति किम्—पयः पयो जरयति, वासो वासश्छादयति, ाह्मणाभ्यां च कृतं ब्राह्मणाभ्यां च देहीति।

३२७-वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः ॥१।२।६५॥

जो तल्लक्षण अर्थात् वृद्धप्रत्ययान्त और युवप्रत्ययान्त ही का शेष नाम विरूपता हो और मूल प्रकृति समान होवे तो वृद्ध नाम ोत्र प्रत्ययान्त शब्द और युव प्रत्ययान्त शब्द का जब एक सङ्ग च्चारण करें तब वृद्ध शेष रहे और युवा की निवृत्ति हो। उदाहरण—ार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च तौ गार्ग्यौ। वात्स्यश्च वात्स्यायनश्च वात्स्यौ। द्ध इति किम्—गर्गश्च गार्ग्यायणश्च गर्गगार्ग्यायणौ। यूनेति किम्—ार्ग्यश्च गर्गश्च गार्ग्यगर्गौ। तल्लक्षण इति किम्। गार्ग्यवात्स्यायनौ। वकारः किमर्थं—भागवित्तिश्च भागवित्तिकश्च भागवित्तिभाग वित्तिकौ। कुत्सा और सौवीर ये दो अर्थ भागवित्तिक शब्द में युव त्ययान्त से भी अलग हैं।

३२८-स्त्री पुंवच्च ॥ १ । २ । ६६ ॥

जब वृद्धा स्त्री और युवा का एक सङ्ग उच्चारण करें तब वृद्धा स्त्री शेष रहे युवा की निवृत्ति हो। पुंवत् अर्थात् स्त्री को पुल्लिङ्ग के सदृश कार्य हो जो तल्लक्षण ही विशेष होवे तो। गार्गी च गार्ग्या-

[illegible] का प्रधान कारण भट्टोजिदीक्षित द्वारा अष्टाध्यायी के क्रम को तोड़कर एक शेष को द्वन्द्व प्रकरण में रख देना है। पु० मी०।

यणश्च गार्ग्यौ, वात्सी च वात्स्यायनश्च वात्स्यौ, दाक्षी च दाक्षायणश्च दाक्षी ।

३२९–पुमान् स्त्रिया ॥ १ । २ । ६७ ॥

जो तल्लक्षण विशेष होवे तो स्त्री के साथ पुरुष शेष रहे स्त्री निवृत्त हो । जैसे—ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणौ, कुक्कुटी च कुक्कुटश्च कुक्कुटौ । यहां तल्लक्षण विशेष इसलिये है कि "कुक्कुटश्च मयूरी च कुक्कुटमयूर्यौ" यहां एकशेष न होवे । एवकार इसलिये है कि "इन्द्रश्च इन्द्राणी चेन्द्रेन्द्राण्यौ" यहां इन्द्राणी शब्द में पुंयोग की आख्या स्त्रीत्व से पृथक् होने के कारण एकशेष न हो ।

३३०–भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् ॥ १ । २ । ६८ ॥

भ्रातृ और पुत्र शब्द, यथाक्रम स्वसृ और दुहितृ के साथ शेष रहें । भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ, पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ ।

३३१–नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् ॥ १ । २ । ६९ ॥

नपुंसकलिङ्गवाची शब्द नपुंसकभिन्नवाची शब्द के साथ एकशेष पावे और नपुंसक को एक वचन भी विकल्प करके हो । शुक्लश्च कम्बलः शुक्ला च बृहतिका शुक्लं च वस्त्रं तदिदं शुक्लम्, तानीमानि शुक्लानि । अनपुंसक के साथ इसलिये कहा है कि "शुक्लं च शुक्लं च शुक्लं च शुक्लानि" यहां एकवचन न हो ।

३३२–पिता मात्रा ॥ १ । २ । ७० ॥

मातृ शब्द के साथ पितृशब्द विकल्प करके शेष रहे । माता च पिता च पितरौ, मातापितराविति वा ।

३३३–श्वशुरः श्वश्र्वा ॥ १ । २ । ७१ ॥

श्वशुर शब्द श्वश्रू शब्द के साथ विकल्प करके शेष रहे । श्वश्रू च श्वशुरश्च श्वशुरौ, श्वश्रूश्वशुराविति वा ।

३३४–त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् ॥ १ । २ । ७१ ॥

यहां नित्य ग्रहण पूर्व विकल्प की निवृत्ति के लिये है त्यद् आदि शब्द सब शब्दों के साथ शेष रहें। स [illegible] देवदत्तश्च तौ, यश्च देवदत्तश्च यौ।

३३५–वा०–त्यदादीनां मिथो यद्यत् परं तच्छिष्यते ॥ १ । २ । ७२ ॥

त्यदादि शब्दों के एकशेष में जो शब्द परे होता है वह शेष रहता है। सच यश्च यौ, यश्च कश्च कौ।

३३६–ग्राम्यपशुसंघेष्वतरुणेषु स्त्री ॥ १ । २ । ७३ ॥

ग्राम में रहने वाले पशुओं के समुदाय में स्त्रीवाची शब्द पुरुषवाची शब्द के साथ शेष रहे। 'पुमान् स्त्रिया' (सा० ३२९) इस सूत्र से पुरुषवाची शब्द का शेष पाया था उसका अपवाद यह सूत्र है। महिषाश्च महिष्यश्च महिष्य इमाश्चरन्ति, गाव इमाश्चरन्ति, अजा इमाश्चरन्ति। ग्राम्यग्रहणं किम्—रुरव इमे, पृषता इमे। पशुष्विति किम्—ब्राह्मणाः, क्षत्रियाः। सङ्घेष्विति किम्—एतौ गावौ चरतः। अतरुणेष्विति किम्—वत्सा इमे, बर्करा इमे।

३३७–वा०–अनेकशफेष्विति वक्तव्यम् ॥१।२।७३॥

अनेक शफ अर्थात् जिन पशुओं के खुर दो २ हों कि जैसे—गाय भैंस आदि उन्हीं में यह विधि हो और यहां न होवे कि "अश्वा इमे, गर्दभा इमे" घोड़े और गधे के खुर जुड़े होते हैं।

इससे आगे सामान्य सूत्रों को लिखते हैं जिनमें समास विशेष का नियम नहीं है।

३३८–प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् ॥१।२।४३॥

समास विधायक सूत्रों में प्रथमा विभक्ति से जिस शब्द का

उच्चारण किया हो वह उपसर्जन संज्ञक हो। द्वितीया समास मे द्वितीया प्रथमानिर्दिष्ट और तृतीया समास में तृतीया प्रथमानिर्दिष्ट है। ऐसे ही और भी जानो। कष्टश्रितः, शङ्कुलया खण्डः।

३३९—उपसर्जनं पूर्वम् ॥ २ । २ । ३० ॥

इस सूत्र से उपसर्जन संज्ञक का पूर्व निपात होता है। तथा अन्य भी उपसर्जन संज्ञा के बहुत कार्य हैं सो अपने अपने प्रकरण मे समझने चाहियें। यहां समास में उनके लिखने की आवश्यकता नहीं।

३४०—एकविभक्ति चापूर्वनिपाते ॥ १ । २ । ४४ ॥

जिस पद की समास में एक ही विभक्ति नियत हो वह उपसर्जन संज्ञक हो। अपूर्वनिपाते—पूर्वनिपाताख्य जो उपसर्जन कार्य है उसको छोड़ के। निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या (सा० १९२) यहां जैसे पञ्चम्यन्त ही पद का नियम है इसलिये उत्तर पद की उपसर्जन संज्ञा होती है। निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः। यहां उपसर्जन संज्ञा का प्रयोजन यह है कि स्त्रीप्रत्यय का ह्रस्व हो जाता है। एकविभक्तीति किम्—राजकुमारी ※। अपूर्वनिपात इति किम्—निष्कौशाम्बिः। यहां [पूर्वनिपात करने के लिये] कौशाम्बी की उपर्जन संज्ञा नहीं होती।

३४१—गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य ॥ १ । २ । ४८ ॥

गो इति स्वरूपग्रहणं, स्त्रीति प्रत्ययग्रहणं स्वरितत्वात्। इसका

※ यहां एक विभक्ति का नियम इसीलिये नहीं है कि कुमारी शब्द से सब विभक्तियों का प्रयोग होता है। जैसे—राज्ञः कुमारी, राज्ञः कुमारीम्, राज्ञः कुमार्या, राज्ञः कुमार्यै इत्यादि। इस प्रकार कौशाम्बी शब्द में सब विभक्तियां नहीं होतीं।

अर्थ यह है कि जो चतुर्थ अध्याय में 'स्त्रियाम्' (स्त्री० १) इस अधिकार सूत्र करके प्रत्यय कहे हैं उनका यहां ग्रहण है। स्त्री-शब्दान्त प्रातिपदिक को और उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिक को ह्रस्व हो। चित्रगु', शबलगु', निष्कौशाम्बिः, निर्वाराणसिः, अतिखट्वः, अतिमालः। उपसर्जनस्येति किम्—राजकुमारी। स्वरितत्वात् किम्—अतितन्त्रीः, अतिलक्ष्मीः, अतिश्रीः।

३४२—कडाराः कर्मधारये ॥ २ । ३ । ३८ ॥

कर्मधारय समास में कडार शब्द का पूर्वनिपात विकल्प करके हो। जैसे—कडारजैमिनि', जैमिनिकडारः इत्यादि।

जो 'प्राक्कडारात्समासः' (सा० ५) इस सूत्र में समास का अधिकार किया था वह पूरा हो गया। अब इसके आगे समास में किस पद के लिङ्ग का प्रयोग होना चाहिये, इसका आरम्भ हुआ है।

३४३—परवल्लिङ्गन्द्वन्द्वतत्पुरुषयोः ॥ २ । ४ । २६ ॥

द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में परपद का लिङ्ग हो। द्वन्द्व—कुक्कुटमयूर्याविमे, मयूरीकुक्कुटाविमौ। तत्पुरुष—अर्धं पिप्पल्या, अर्धपिप्पली, अर्धकोशातकी।

३४४—द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥ २ । ४ । २६ ॥

द्विगु, प्राप्त, आपन्न, अलंपूर्वक तथा गतिसंज्ञक इन समासों में पर पद का लिङ्ग न हो। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः पञ्चकपालः, प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः, आपन्नो जीविकां आपन्नजीविकः; अलंपूर्वकः—अलंजीविकायै, अलंजीविकः। गतिसमास—निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिः, निर्वाराणसिः।

३४५—अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्साम

वाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीवपदष्ठीवनक्तंदिवरात्रिंदिवाहर्दिव-सरजसनिश्श्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धो-क्षोपशुनगोष्ठश्वा ॥ ५ । ४ । ७७ ॥

ये १५ बहुव्रीहि आदि समासों में अच् प्रत्ययान्त निपातन किये हैं सो आदि में तीन बहुव्रीहि हैं। अविद्यमानानि चत्वारि सेनाङ्गानि यस्य स अचतुर, विगतानि चत्वारि यस्य स विचतुर, शोभनानि [चत्वारि] यस्य स सुचतुर। इससे आगे ११ ग्यारह द्वन्द्व समास में निपातन किये हैं। स्त्रीपुंसौ, धेन्वनडुहौ, ऋक्सामे, वाङ्मनसे, अक्षिभ्रुवम्, दाराश्च गावश्च दारगवम्, ऊरू च अष्ठीवन्तौ च ऊर्वष्ठीवम्, टिलोपो निपात्यते। पादौ चाष्ठीवन्तौ च पदष्ठीवम्, नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम्, रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवम्, मान्तत्वं निपात्यते। अहनि च दिवा च अहर्दिवम्, वीप्साया द्वन्द्वो निपात्यते, अहन्यहनीत्यर्थे। एक अव्ययीभाव साकल्य अर्थ में है। सरजसमभ्यवहरति। इससे परे तत्पुरुष जानो। निश्चितं श्रेयो निश्श्रेयसम्। यहां से परे षष्ठी समास है। पुरुषस्य आयुः पुरुषायुषम्। इससे परे द्विगु है। द्वे आयुषी समाहृते द्व्यायुषम्, त्र्यायुषम्। इससे परे द्वन्द्व। ऋक् च यजुश्च ऋग्यजुषम्। आगे उक्षशब्दान्त तीन कर्मधारय समास हैं। जातश्चासावुक्षा च जातोक्ष, महोक्ष, वृद्धोक्ष। इससे परे एक अव्ययीभाव समास है। शुनः समीप उपशुनम्। इससे परे सप्तमी तत्पुरुष समास है। गोष्ठे श्वा गोष्ठश्व। जिस जिस समास में जो जो निपातन किये हैं वे उसी उसी समास में निपातन जानने चाहियें।

३४६—वा०—चतुरोऽच्प्रकरणे त्र्युपाभ्यामुपसंख्यानम् ॥ ५ । ४ । ७७ ॥

त्रि और उपशब्द से परे जो चतुर शब्द उससे समासान्त अच् प्रत्यय हो। जैसे—त्रिचतुराः, उपचतुराः।

३४७—द्वितीये चाऽनुपाख्ये ॥ ६ । ३ । ८० ॥

जो प्रत्यक्ष जाना जाय सो उपाख्य और जो इससे भिन्न है सो कहिये अनुपाख्य अर्थात् अनुमेय है। जहां द्वितीय अनुपाख्य हो वहां सह शब्द को स आदेश हो। सबुद्धिः, साग्निः कपोतः, सपिशाचा वात्या, सराक्षसीका शाला। यहां अग्नि आदि साक्षात् नहीं होते, किन्तु अनुमानगम्य हैं।

३४८—ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्ण-वयोवचनबन्धुषु ॥ ६ । ३ । ८५ ॥

ज्योतिष्, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन और बन्धु ये उत्तरपद परे होवें तो समान को स आदेश हो। समानं च तज्ज्योतिश्च सज्योतिः, समानं ज्योतिर्यस्मिन् स सज्योतिर्व्यवहारः, सजनपदः, सरात्रिः, सनाभिः, सनामा, सगोत्रः, सरूपः, सस्थान, सवर्णः, सवयाः, सवचनः, सबन्धुः।

३४९—चरणे ब्रह्मचारिणि ॥ ६ । ३ । ८६ ॥

आचरण अर्थ में ब्रह्मचारी उत्तरपद परे हो तो समान शब्द को स आदेश हो। समानो ब्रह्मचारी सब्रह्मचारी। जो वेद पढ़ने के लिए एक आचार्य के समीप व्रत को धारण करता है वह सब्रह्मचारी कहाता है।

३५०—इदंकिमोरीश्की ॥ ६ । ३ । ९० ॥

जो दृक्, दृश् और वतु परे हों तो इदम् और किम् शब्द को ईश् और की आदेश हों। ईदृक्, ईदृश, इयान्, कीदृक्, कीदृशः, कियान्।

अर्थ उत्तरपद परे हो तो अन्य शब्द को दुक् का आगम विकल्प करके हो। अन्योऽर्थः अन्यदर्थः। पक्षे—अन्यार्थः।

८ ३६२–कोः कत् तत्पुरुषेऽचि ॥ ६ । ३ । १०१ ॥

जो अजादि उत्तरपद परे और तत्पुरुष समास हो तो कु शब्द के स्थान में कत् आदेश हो। कदजः, कदश्वः, कदुष्ट्रः, कदन्नम् इत्यादि। तत्पुरुष इति किम्—कूष्ट्रो राजा। अचीति किम्—कुब्राह्मणः, कुपुरुषः।

३६३–वा०—कद्भावे त्रावुपसंख्यानम् ॥६।३।१०१॥

जो कु शब्द को कत् आदेश कहा है सो त्रि शब्द के परे भी होवे। कुत्सितास्त्रयः कत्त्रयः।

३६४–रथवदयोश्च ॥ ६ । ३ । १०२ ॥

रथ और वद उत्तरपद परे हों तो कु शब्द को कत् आदेश हो। कद्रथः, कद्वदः।

३६५–तृणे च जातौ ॥ ६ । ३ । १०३ ॥

जाति अर्थ में तृण उत्तरपद परे हो तो कु के स्थान में कत् आदेश हो। कत्तृणा नाम जातिः। जाताविति किम्—कुत्सितानि तृणानि कुतृणानि।

३६६–का पथ्यक्षयोः ॥ ६ । ३ । १०४ ॥

पथिन् और अक्ष उत्तरपद परे हों तो कु शब्द को का आदेश हो। कुत्सितः पन्थाः कापथः, काक्षः।

३६७–ईषदर्थे ॥ ६ । ३ । १०५ ॥

किञ्चित् अर्थ में वर्त्तमान कु शब्द को उत्तरपद परे हो तो 'का' आदेश हो। ईषल्लवणम्—कालवणम्, कामधुरम्, काऽम्लम्, ईषदुष्णम्—कोष्णम्।

३६८–विभाषा पुरुषे ॥ ६ । ३ । १०६ ॥

पुरुष उत्तरपद परे हो तो कु शब्द को का आदेश विकल्प करके हो। कुत्सितः पुरुषः कापुरुष, कुपुरुषः।

३६९—कवं चोष्णे ॥ ६ । ३ । १०७ ॥

उष्ण उत्तरपद परे हो तो कु शब्द को कव आदेश विकल्प करके हो पक्ष में का हो। ईषदुष्णम् कवोष्णम्, कोष्णम्, कदुष्णम्।

३७०—पथि च छन्दसि ॥ ६ । ३ । १०८ ॥

वेद में पथिन् उत्तरपद परे हो तो कु शब्द को कव आदेश हो। पक्ष में विकल्प करके 'का' भी हो। कवपथः, कापथः, कुपथः।

३७१—पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ॥ ६ । ३ । १०९ ॥

जिन शब्दों में लोप आगम और वर्णविकार किसी सूत्र से विधान न किये हों और वे शिष्ट पुरुषों ने उच्चारण किये हों तो वैसे ही उन शब्दों को जानना चाहिये *। पृषदुदरमस्य पृषोदरम्, पृषत् उद्वानम् पृषोद्वानम्। यहां तकार का लोप है। वारिवाहको बलाहकः। यहां वारि शब्द को व आदेश है। तथा वाहक पद के आदि को ल आदेश जानो। जीवनस्य मूतो जीमूतः। यहां वन शब्द का लोप है। शवानां शयनं श्मशानम्। शव शब्द को श्म आदेश और शयन के स्थान में शान जानो। ऊर्ध्वं खमस्येति उलूखलम्। यहां ऊर्ध्व को उलू तथा ख शब्द को खल आदेश जानना चाहिये। पिशिताशः पिशाचः। यहां पिशित को पि और आश के स्थान में शाच आदेश है। मुहुर्त्तोऽस्यां सीदन्तीति बृसी। सदधातु से अधिकरण में ड्रट् प्रत्यय और उपपद मुहत् शब्द को बृ आदेश हो जाता है। मह्या रौतीति मयूरः। अच् प्रत्यय के परे रुधातु के टि

* यह सूत्र अन्य सब साधुत्वकारक सूत्रों के विषयों को छोड़ के बाकी विषय में प्रवृत्त होता है।

का लोप और मही शब्द को मयू आदेश हो जाता है इसी प्रकार और भी "अश्वत्थ, कपित्थ" आदि शब्दों की सिद्धि समझनी चाहिये।

३७२—वा०—दिक्शब्देभ्य उत्तरस्य तीरशब्दस्य तारभावो वा भवति ॥ ६ । ३ । १०९ ॥

दिशावाची शब्दों से परे तीर शब्द को तार आदेश विकल्प करके हो। दक्षिणतीरम्, दक्षिणतारम्; उत्तरतीरम्, उत्तरतारम्।

३७३—वा०—वाचो वादे डत्वं च लभावश्चोत्तरपदस्येञि प्रत्यये भवति ॥ ६ । ३ । १०९ ॥

वाद उत्तरपद के परे वाक् शब्द को ड आदेश और इञ् प्रत्यय के परे उत्तर वाद शब्द [के द] को ल आदेश हो जावे। वाचं वदतीति वाग्वादः, तस्यापत्यं वाड्वालिः।

३७४—वा०—षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेष्टुत्वं च भवति ॥ ॥ ६ । ३ । १०९ ॥

षट् शब्द को उ हो दत्, दश और धा उत्तरपद के परे हों तो और उत्तरपद के आदि को मूर्धन्य आदेश हो। षट्दन्ता अस्य षोडन्। षट् च दश च षोडश।

३७५—वा०—धासु वा षष उत्वं भवति उत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम् ॥ ६ । ३ । १०९ ॥

पूर्वोक्त कार्य धा उत्तरपद में विकल्प करके हो। षोढा, षड्धा कुरु।

३७६—वा०—दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वं वक्तव्यमुत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम् ॥ ६ । ३ । १०९ ॥

दुर् शब्द को उत्व हो दाश नाश दभ और ध्य ये उत्तरपद परे हों तो और उत्तर पदों के आदि को मूर्धन्य आदेश हो। कृच्छ्रेण दाश्यते, नाश्यते, दभ्यते च यः स दूडाशः, दूणाशः, दूडभः। दुष्टं ध्यायतीति दूढ्यः। इत्यादि।

३७७—वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥ काशिका ६। ३। १०९॥

३७८—संहितायाम्॥ ६। ३। ११४॥

अब जो कार्य कहेंगे सो संहिता के विषय में होंगे अर्थात् यह अधिकार सूत्र है।

३७९—कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य॥ ६। ३। ११५॥

कर्ण शब्द उत्तरपद परे हो तो विष्ट, अष्ट, पञ्च, मणि, भिन्न, छिन्न, छिद्र, स्रुव, स्वस्तिक इन नव शब्दों को छोड़ के लक्षणवाची पूर्वपद को दीर्घ आदेश हो संहिता विषय में। दात्रमिव कर्णोऽस्य दात्राकर्णः, द्विगुणाकर्णः, त्रिगुणाकर्णः, द्व्यङ्गुलाकर्णः, त्र्यङ्गुलाकर्णः। यत् पशूनां स्वामिविशेषसम्बन्धज्ञापनार्थं दात्राकारादि क्रियते तदिह लक्षणं गृह्यते। लक्षणस्येति किम्—शोभनकर्णः। अविष्टादीनामिति किम्—विष्टकर्णः, अष्टकर्णः, पञ्चकर्णः, मणिकर्णः, भिन्नकर्णः, छिन्नकर्णः, छिद्रकर्णः, स्रुवकर्णः, स्वस्तिककर्णः।

३८०—नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ॥ ६। ३। ११६॥

नीवृत्, उपावृत्, प्रावृट्, उपावृट्, मर्माविध्, हृदयाविध्, श्वाविध्, नीरुक्, अभीरुक्, ऋतीषट्, तरीतत्। क्वाविति किम्–परिणाहनम्।

३८१–वनगिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशुलकादीनाम् ॥ ६ । ३ । ११७ ॥

संज्ञा विषय में वन उत्तरपद परे हो तो कोटर आदि और गिरि परे हो तो किंशुलक आदि पूर्वपदों को दीर्घ आदेश हो। कोटरावणम्, मिश्रकावणम्, सिध्रकावणम्, सारिकावणम्; किंशुलकागिरिः, अञ्जनागिरिः। कोटरकिंशुलकादीनामिति किम्—असिपत्रवनम्, कृष्णगिरिः।

३८२–अष्टनः संज्ञायाम् ॥ ६ । ३ । १२५ ॥

अष्टन् पूर्वपद को दीर्घ आदेश हो संज्ञा विषय में, अष्टावक्रः, अष्टाबन्धुरः, अष्टापदम्। संज्ञायामिति किम्–अष्टपुत्रः, अष्टबन्धुः।

३८३–छन्दसि च ॥ ६ । ३ । १२६ ॥

वेद विषय में अष्टन् पूर्वपद को उत्तरपद परे हो तो दीर्घ आदेश हो। आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्, अष्टाहिरण्या दक्षिणा, अष्टापदं सुवर्णम्।

३८४–वा०–गवि च युक्ते भाषायामष्टनो दीर्घो भवतीति वक्तव्यम् ॥ काशिका ६ । ३ । १२६ ॥

लौकिक प्रयोग विषय में युक्तार्थी गो शब्द उत्तरपद परे हो तो अष्टन् पूर्वपद को दीर्घ हो जावे। जैसे—अष्टागवं शकटम्।

३८५–चितेः कपि ॥ ६ । ३ । १२७ ॥

कप् प्रत्यय परे हो तो चिति पद को दीर्घ आदेश हो। द्विचितीकः, त्रिचितीकः।

३८६–विश्वस्य वसुराटोः ॥ ६ । ३ । १२८ ॥

वसु और राट् उत्तरपद परे हों तो विश्व पूर्वपद को दीर्घ आदेश हो। विश्वावसुः, विश्वाराट्।

३८७—नरे संज्ञायाम् ॥ ६ । ३ । १२९ ॥

संज्ञा विषय में जो नर उत्तरपद परे हो तो विश्व पूर्वपद को दीर्घ हो। विश्वानरो नाम यस्य वैश्वानरिः पुत्रः। संज्ञायामिति इत्यादि—विश्वे नरा यस्य स विश्वनरः।

३८८—मित्रे चर्षौ ॥ ६ । ३ । १३० ॥

ऋषि अर्थ में मित्र उत्तरपद परे हो तो विश्व पूर्वपद को दीर्घ आदेश हो। विश्वामित्रो ऋषिः। ऋषाविति किम्—विश्वमित्रो माणवकः।

३८९—सर्वस्य द्वे ॥ ८ । १ । १ ॥

सब शब्दों के दो दो रूप होवें। यह अधिकार सूत्र है।

३९०—तस्य परमाम्रेडितम् ॥ ८ । १ । २ ॥

दो भागों का जो पर रूप है सो आम्रेडित संज्ञक हो। चौर चौर३, दस्यो दस्यो३, घातयिष्यामि त्वा, बन्धयिष्यामि त्वा।

३९१—अनुदात्तं च ॥ ८ । १ । ३ ॥

जो पर भाग है सो अनुदात्त भी हो।

३९२—नित्यवीप्सयोः ॥ ८ । १ । ४ ॥

नित्य और वीप्सा अर्थ में वर्तमान जो शब्द उसको द्वित्व हो। तिङ् अव्यय और कृत् इनमें तो नित्यत्व होता है। तथा सुप् में वीप्सा होती है, व्याप्तुमिच्छा वीप्सा। पचति पचति, पठति पठति, जल्पति जल्पति, भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति, भोजं भोजं व्रजति। ग्रामो ग्रामो रमणीयः, जनपदो जनपदो रमणीयः, पुरुषः पुरुषो निधनमुपैति।

३९३—परेर्वर्जने ॥ ८ । १ । ५ ॥

भाव और अन्तोदात्त। सुब्लोप–पटुपटुः, मृदुमृदुः, पण्डितपण्डितः। पुंवद्भाव—पटुपट्वी, मृदुमृद्वी, कालिककालिका। अन्तोदात्त—पटुपटुः, पटुपट्वी।

४०१–प्रकारे गुणवचनस्य ॥ ८ । १ । १२ ॥

प्रकार नाम सादृश्य अर्थ में वर्तमान शब्द को द्वित्व हो। पटु पटु, पण्डित पण्डित। प्रकार वचन इति किम्—पटुर्देवदत्तः। गुणवचनस्येति किम्—अग्निर्माणवकः।

४०२–वा०—आनुपूर्व्ये द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥ ८ । १ । १२ ॥

मूले मूले स्थूलाः, अग्रे अग्रे सूक्ष्माः, ज्येष्ठं ज्येष्ठं प्रवेशय।

४०३–वा०–स्वार्थेऽवधार्यमाणेऽनेकस्मिन् द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥ ८ । १ । १२ ॥

अस्मात् कार्षापणादिह भवद्भ्यां माषं माषं देहि। अनवधार्यमाण इति किम्—अस्मात् कार्षापणादिह भवद्भ्यां माषमेकं देहि, द्वौ माषौ देहि, त्रीन् वा माषान् देहि। अनेकस्मिन् इति किम्—अस्मात् कार्षापणादिह भवद्भ्यां माषमेकं देहि।

४०४–वा०–चापले द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥ ८ । १ । १२ ॥

संभ्रमेण प्रवृत्तिश्चापलम्। अहिरहिर्बुध्यस्व बुध्यस्व। नावश्यं द्वावेव शब्दौ प्रयोक्तव्यौ। किं तर्हि ? यावद्भिः शब्दैः सोऽर्थोऽवगम्यते तावन्तः प्रयोक्तव्याः। अहिरहिरहिर्बुध्यस्व बुध्यस्व बुध्यस्व ३।

४०५–वा०–आभीक्ष्ण्ये द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥ ८ । १ । १२ ॥

भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति, भोजं भोजं व्रजति।

४०६—वा०—क्रियासमभिहारे द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥ ८ । १ । १२ ॥

स भवान् लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति ।

४०७—वा०—डाचि बहुलं द्वे भवत इति वक्तव्यम ॥ ८ । १ । १२ ॥

पटपटा करोति, पटपटायते ।

४०८—वा०—पूर्वप्रथमयोरर्थाऽतिशयविवक्षाया द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥ ८ । १ । १२ ॥

पूर्वं पूर्वं पुष्यन्ति । प्रथमं प्रथमं पच्यन्ते ।

४०९—वा—डतरडतमयोः समसंप्रधारणयोः स्त्रीनिगदे भावे द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥ ८ । १ । १२ ॥

उभाविमावाढ्यौ, कतरा कतरा अनयोराढ्यता ? सर्वे इमे आढ्या, कतमा कतमा एषामाढ्यता ? डतरडतमाभ्यामन्यत्रापि हि दृश्यते—उभाविमावाढ्यौ, कीदृशी कीदृशी अनयोराढ्यता ? तथा स्त्रीनिगदाद् भावादन्यत्रापि हि दृश्यते—उभाविमावाढ्यौ, कतरः कतरोऽनयोर्विभव. ? इति ।

४१०—वा०—कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवत इति वक्तव्यम्, समासवच्च बहुलम्, यदा न समासवत् प्रथमैकवचनं तदा पूर्वपदस्य ॥ ८ । १ । १२ ॥

अन्यमन्यमिमे ब्राह्मणा भोजयन्ति, अन्योन्यमिमे ब्राह्मणा भोजन्ति, अन्योन्यस्येमे ब्राह्मणा भोजयन्ति, इतरेतरान् भोजयन्ति ।

४११—वा०—स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपदस्य चाम्भावो वक्तव्य. ॥ ८ । १ । १२ ॥

अन्योन्यामिमे ब्राह्मणौ भोजयतः, अन्योन्यंभोजयतः, इतरेतराम्भोजयतः, इतरेतरम्भोजयतः, अन्योन्यमिमे ब्राह्मणकुले भोजयतः, इतरेतरमिमे ब्राह्मणकुले भोजयतः ।

४१२—द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु ॥ ८ । १ । १५ ॥

दन्द्व यहां द्वि शब्द को द्वित्व तथा पूर्वपद को अम्भाव और उत्तरपद को अकार आदेश निपातन किया है रहस्य, मर्यादावचन, व्युत्क्रमण, यज्ञपात्रप्रयोग और अभिव्यक्ति इन अर्थों में । रहस्य—द्वन्द्वं मन्त्रयते द्वन्द्वं मिथुनायते * । मर्यादावचन—आचतुरं हीमे पशवो द्वन्द्वं मिथुनायन्ते, माता पुत्रेण मिथुनं गच्छति, पौत्रेण तत्पुत्रेणापीति । व्युत्क्रमण—द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः, द्विवर्गसम्बन्धात्पृथगवस्थिता इत्यर्थः । यज्ञपात्रप्रयोग—द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति धीरः । अभिव्यक्ति—द्वन्द्वं नारदपर्वतौ, द्वन्द्वं संकर्षणवासुदेवौ । द्वावप्यभिव्यक्तौ साहचर्येणेत्यर्थः ।

वसुकालाङ्कभूवर्षे भाद्रमाससिते दले ।
द्वादश्यां रविवारेऽयं सामासिकः पूर्णोऽनघः ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्येण श्रीयुतयतिवरमहाविद्वद्भिः
श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिभिः सुशिक्षितेन
दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मितः
आर्यभाषाव्याख्यया सुभूषितः
सामासिकोऽयं ग्रन्थः
पूर्तिमगमत् ॥

---

* गाना और मुखचुम्बनादि एकान्त में विचार और विवाहित पुरुष ऋतुकाल में समागम करें ।

॥ ओ३म् ॥

आर्यसमाज के नियम

१—सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्त्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें॥